

ज्ञानार्णव प्रवचन षष्ठम् भाग  
सहजानंद शास्त्रमाला

## ज्ञानार्णव प्रवचन

### षष्ठम् भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री  
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास  
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन भाग षष्ठम्' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में कु. प्रतीक्षा जैन, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती अर्चनाजी जैन, साधनानगर, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं। सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto:Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।  
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।  
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।  
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।  
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।  
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥  
अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।  
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूँ रम लूँ निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

## Table of Contents

प्रकाशकीय .....	Error! Bookmark not defined.
आत्मकीर्तन .....	- 3 -
आत्म रमण .....	- 4 -
श्लोक-351 .....	1
श्लोक-352 .....	2
श्लोक-353 .....	3
श्लोक-354 .....	4
श्लोक-355 .....	5
श्लोक-356 .....	7
श्लोक-357 .....	8
श्लोक-358 .....	10
श्लोक-359 .....	11
श्लोक-360 .....	12
श्लोक-361 .....	13
श्लोक-362 .....	14
श्लोक-363 .....	14
श्लोक-364 .....	16
श्लोक-365 .....	17
श्लोक-366 .....	18
श्लोक-367 .....	18
श्लोक-368 .....	19
श्लोक-369 .....	20
श्लोक-370 .....	20

श्लोक-371 .....	23
श्लोक-372 .....	26
श्लोक-373 .....	27
श्लोक-374 .....	29
श्लोक-375 .....	30
श्लोक-376 .....	31
श्लोक-377 .....	33
श्लोक-378 .....	34
श्लोक-379 .....	36
श्लोक-380 .....	37
श्लोक-381 .....	38
श्लोक-382 .....	38
श्लोक-383 .....	39
श्लोक-384 .....	41
श्लोक-385 .....	41
श्लोक-386 .....	42
श्लोक-387,388 .....	44
श्लोक-389 .....	46
श्लोक-390 .....	47
श्लोक-391 .....	48
श्लोक-392 .....	50
श्लोक-393 .....	50
श्लोक-394 .....	51
श्लोक-395 .....	52
श्लोक-396 .....	53
श्लोक-397 .....	53

श्लोक-398 .....	55
श्लोक-399 .....	57
श्लोक-400 .....	58
श्लोक-401 .....	59
श्लोक-402 .....	60
श्लोक-403 .....	61
श्लोक-404 .....	62
श्लोक-405 .....	63
श्लोक-406 .....	64
श्लोक-407 .....	66
श्लोक-408 .....	68
श्लोक-409 .....	69
श्लोक-410 .....	70
श्लोक-411 .....	71
श्लोक-412 .....	72
श्लोक-413 .....	73
श्लोक-414 .....	74
श्लोक-415 .....	76
श्लोक-416 .....	77
श्लोक-417,418 .....	78
श्लोक-419 .....	79
श्लोक-420 .....	79
श्लोक-421 .....	80
श्लोक-422 .....	81
श्लोक-423 .....	82
श्लोक-424 .....	83

श्लोक-425 .....	85
श्लोक-426 .....	86
श्लोक-427 .....	86
श्लोक-428 .....	87
श्लोक-429 .....	88
श्लोक-430 .....	89
श्लोक-431 .....	90
श्लोक-432 .....	91
श्लोक-433 .....	93
श्लोक-434 .....	94
श्लोक-435 .....	95
श्लोक-436 .....	96
श्लोक-437 .....	97
श्लोक-438 .....	97
श्लोक-439 .....	99
श्लोक-440 .....	100
श्लोक-441 .....	100
श्लोक-442 .....	102
श्लोक-443 .....	103
श्लोक-444 .....	103
श्लोक-445 .....	104
श्लोक-446 .....	105
श्लोक-447 .....	106
श्लोक-448 .....	107
श्लोक-449 .....	108
श्लोक-450 .....	109

श्लोक-451 .....	110
श्लोक-452 .....	111
श्लोक-453 .....	111
श्लोक-454 .....	113
श्लोक-455 .....	113
श्लोक-456 .....	115
श्लोक-457 .....	115
श्लोक-458 .....	116
श्लोक-459 .....	117
श्लोक-460 .....	118
श्लोक-461 .....	119
श्लोक-462 .....	121
श्लोक-463 .....	122
श्लोक-464 .....	123
श्लोक-465 .....	124
श्लोक-466 .....	125
श्लोक-467 .....	126

## ज्ञानार्णव प्रवचन षष्ठम् भाग

[प्रवक्ता – अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक

मनोहर ही 'वर्णी' सहजानन्द महाराज]

### श्लोक-351

अथ निर्णीततत्त्वार्थी धन्याः संविग्नमानसाः।

कीर्त्यनते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः ॥३५१॥

**ज्ञानी मुनियों के ध्यान की प्रशंसा** –अब ध्याता योगीश्वरों की विशेषतायें कही जा रहीं हैं । जो संयमी मुनि तत्त्वार्थ का निर्णय कर चुके हैं तथा सम्वेगरूप हैं, मोक्ष अथवा मोक्ष के मार्ग में अनुरागी हैं, संसारजन्य सुखों में वाञ्छारहित हैं ऐसे मुनि धन्य हैं । ध्यान सिद्धि के पात्र ऐसे साधु ही होते हैं जिनको केवल एक आत्मदर्शन, आत्मध्यान की ही लगन है और यह लगन इतनी दृढ़ और प्रबल है कि सर्वपरिग्रह तो छूट ही गए थे, देह की भी सुध नहीं रहती, इस ओर भी दृष्टि नहीं रहती ऐसी अधिक लगन के साथ जो मुनि अन्तर्दृष्टि में बर्तते हैं उनके ही ध्यान की उत्तम सिद्धि होती है । जिसका ध्यान करते हैं, जिसे चाहा है उसकी ओर की उत्कृष्ट भावना तो होनी ही चाहिए । अन्यथा विशिष्ट ध्यान नहीं बन सकता । ध्यान के लिए प्रथम बात तो यह दर्शाया है कि तत्त्वार्थ का निर्णय होना चाहिए ।

**अन्तरङ्ग विधि से ही बाह्यविधि की पूरकता** –कई सन्यासी ऐसे भी होते हैं कि वे ध्यान की बाह्य विधि में प्रवीण होते हैं ? किसी शून्य पर किसी चिन्ह पर बहुत देर तक दृष्टि लगायें रहना, पूरक, कुम्भक, रेचक प्राणायाम की, साधना रखना और यहाँ तक भी प्राणायाम की साधना का अभ्यास हो जाता है कि कई घंटा श्वास को रोक सकें, जैसे लौकिक चमत्काररूप के अब भी यत्र तत्र लोग सुने जाते हैं । लेकिन, सर्वसार क्या है, हितरूप लक्ष्य क्या है, इसका परिचय न हो तो ऐसे उपयोग से भले ही देहसाधना हुई, मन की साधना हुई, पर उत्तम ध्यान की साधना नहीं बनती । यों समझ लीजिए कि यह उपयोग अपने स्वभाव से भ्रष्ट होकर पर की ओर विकल्पों में रम रहा है, यही तो बन्धन है और यही सर्व विपदाओं का मूल है । इस विपदा से छुटकारा तब ही तो सम्भव है जब सर्व परभावों से परपदार्थों से पर तत्त्वों से न्यारा यह ज्ञानप्रकाशमात्र मैं हूँ ऐसा दृढ़ निर्णय करके अपने को निर्भार अनुभव करे । ऐसे स्वानुभवी को ही तो अपने आपमें मग्नता की बात आ सकेगी । अतएव सर्वप्रथम कहा गया है कि तत्त्वार्थ का सही निर्णय होना चाहिए ।

ज्ञानयोग से ध्याता की उत्कृष्टता –देखिये भैया ! विज्ञान में यद्यपि सभी बातें हैं लेकिन वस्तुस्वरूप का परिचय पाये बिना और वस्तुस्वातंत्र्य की पद्धति से पदार्थों को देखने की

## श्लोक-352

भवभ्रमण निर्विष्णा भावशुद्धिं समाश्रिताः ।

सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥३५२॥

धुन बिना हितकारी ध्यान की साधना नहीं बन सकती । इन समस्त सम्बन्धों का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों का ज्ञान कर लिया, एक बार हो गया, दो, चार बार समझ लिया, बोल लिया, पर इतने मात्र से संतोष मत करो । हमें निरन्तर दृष्टि वस्तु के एकत्वस्वरूप पर रखने का यत्न करना चाहिए । एक आत्महित के लिए अपने आपमें अपने आप पर ही दया करके सोचने की बात कही जा रही है । जिन पुरुषों ने तत्त्वार्थ का सही निर्णय किया है अतएव पर से उपेक्षित होकर मोक्ष और मोक्षमार्ग में जिनके अनुराग जगा है और इस ही कारण संसार जनित सुखों में जिनकी वाञ्छा नहीं रही, ऐसे संयमी मुनि प्रशंसनीय ध्याता हैं ।

पुण्यचेष्टित यागियों की विरलता तथा इस काल में भी संभवता –इस पृथ्वीतल पर अनेक योगिश्वर संसार चक्र से विरक्त हैं, शुद्ध भावों से परिपूर्ण हैं, पवित्र चेष्टा वाले हैं, ऐसे संयमी संतजन प्रशंसनीय ध्याता होते हैं । यद्यपि कुछ ऐसा जचता होगा कि जैसे योगिश्वरों की प्रशंसा की जा रही है ऐसे योगिश्वर इस काल में तो दिख नहीं पड़ते, जो संसारचक्र से अति विरक्त हैं, निरन्तर एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अंतस्तत्त्व में अनुरक्त ऐसे पवित्र चेष्टावान निष्पृह योगिश्वर इस काल में तो यहाँ नजर नहीं आते, तो क्या यह केवल ग्रन्थ की लिखी हुई बात है ? समाधान में यों समझिये कि ऐसे योगीश्वर हुए थे और आज कल भी जहाँ कहीं होंगे, अभाव तो अभी नहीं है, किन्तु जो योगीश्वर केवल एक आत्मस्वरूप के दर्शन के यत्न में रहते हैं, जैसे धनिक लोग इतना धनसंचय हो, इतना और हो, जैसे उस उस ओर ही भाव रखा करते हैं ऐसे ही योगी अब आत्मानुभव हुआ, आत्मदर्शन हुआ, अब यही और देर तक रहे ऐसी एक आत्मानुभव के लिए ही की धुन रखा करते हैं । ऐसे योगी ही विशुद्ध आनन्द का अनुभव करते हैं, और कर्मों की निर्जरा करते हुए मोक्षमार्ग में बढ़ते हैं ।

## श्लोक-353

विरज्य कामभोषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।  
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्यातां प्रशस्यते ॥३५३॥

**निःस्पृह स्थिरचित्त योगियों का प्रशंसनीय ध्यातृत्व** –जिसका चित्त काम और भोगों से विरक्त होकर शरीर में स्पृहा को त्यागकर स्थिरीभूत हुआ है वही ध्याता प्रशंसनीय है । काम और भोग ये दो चीजें क्या हैं अलग-अलग । एक ही चीज है, तो यों अर्थ लगायें काम का भोग अथवा कामसहित भोग, इच्छासहित विषयों का सेवन, और यदि दो चीजें समझना हो तो काम शब्द से यों समझ लो स्पर्शनइन्द्रिय और रसनाइन्द्रिय के विषय तथा भोग शब्द से समझ लो प्राण, चक्षु और कर्ण का विषय । ऐसा समझने की कुछ गुँजाइश तो है । भोग शब्द की रुढ़ि उन पदार्थों के भोगने में हुई है कि जिनके भोगने पर पदार्थ में बिगाड़ अथवा विनाश विघात नहीं होता है । जैसे कि बहुत कुछ देखा जाता है, आँख से देख लिया तो उस पदार्थ का मंथन नहीं हुआ, लेकिन स्पर्शन और रसनाइन्द्रिय से जो विषय सेया जाता उसमें पदार्थ का स्पर्श, मंथन बिगाड़ होता है और यह तो स्पष्ट ही है कि, भोजन का तो पूरा ही बिगाड़ हो जाता है । भोजन के विषय में कुछ लोग अधिक आशक्ति रखते हैं अन्य इन्द्रिय की अपेक्षा लेकिन यह तो देखिये कि जिस समय भोजन का स्वाद आ रहा है उस समय किस तरह के भोजन का स्वाद आ रहा है । थाली में लड्डू रखे हैं तो कितने अच्छे आकार के चमकदार हैं, वे पूर्ण हैं, बिढ़या रखे है । और जिस लड्डू का मुख में स्वाद लिये जा रहा है उसकी क्या दशा है । वह हमें अपनी आँखों तो नहीं दिखता क्योंकि वह मुख में है । अगर वह आँखों दिख जाय तो खाया न जाय, ऐसी स्थिति हो जाती है । तो काम में वस्तु का मंथन बिगाड़, विघात, क्लेश ये बातें होती हैं इस दृष्टि से काम शब्द से अर्थ लगा लो स्पर्शन और रसनाइन्द्रिय और भोग शब्द का अर्थ लगा लो प्राण, चक्षु और स्त्रोत के विषय । इस प्रकरण में हमारा बिगाड़ हुआ इसकी प्रधानता से नहीं कहा जा रहा है, क्योंकि हमारा बिगाड़ तो पाँचों विषयों में है, किन्तु जो पदार्थ भोगे जा रहे हैं वे पदार्थ बिगड़ जायें इस दृष्टि से कहा जा रहा है इस कथन का मतलब यह है कि पञ्चेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होकर जो इस अशुद्ध शरीर में स्पृहा को त्याग देते हैं, अतएव जिनका चित्त स्थिरीभूत है वे ध्याता प्रशंसनीय हैं ।

**पापभाव से चित्त की अस्थिरता** –पापकार्यों से चित्त की अस्थिरता होती है । कोई सुभट ऐसे भी होते हैं कि पापकार्य भी करते जायें और चित्त भी लोगों को अस्थिर न दिखे, लेकिन पापकार्यों से उत्पन्न हुई निर्बलता जुड़ते-जुड़ते एकदम किसी भी समय उनका अस्थिरीकरण हो जाता है । जो बात जिस प्रसंग में जिस योग्यता में होनी होती है वह हुआ ही करती है । जैसे पुण्य का उदय प्रबल हो तो वर्तमान में किए जाने वाले पापकार्यों का तुरन्त असर नहीं होता, न लोगों में इज्जत कम होती, न लोगों के द्वारा किया

जाने वाला आदर कम होता और न शरीर में मन में, वचन में कोई बल की कमी होती, लेकिन पापकार्यों में रत पुरुष की यह गाड़ी चल कब तक सकती है। देर तो हो जाय पर अन्धेर नहीं है। तो पापकार्यों से चित्त को अस्थिरता होती है। और, अस्थिर चित्त में ध्यान की साधना नहीं है।

**अविकारस्वरूप के अवलम्बन की शुद्ध प्रयोजकता** –वह साधु प्रशंसनीय है जिसका मन काम से विरक्त होकर शरीर में वाञ्छा न होने से स्थिर हो गया है। लोग दूसरों की भक्ति एक तो करते ही नहीं हैं। करें तो उसमें निज का कुछ करने का ही संबंध है। कोई पुरुष प्रभु की भक्ति कर रहा है तो वह वस्तुतः प्रभु की क्या भक्ति कर रहा है? प्रभु के गुण सुहाये तो उस ओर अपने आपमें अपने गुणों का अनुभवन जगा, बस उन गुणों को बढ़ानेरूप अपनी अपनी भक्ति हो रही है। तो इस प्रकार कोई पुरुष भी जिस किसी दूसरे का आदर करता है तो उसे अपने आपमें गुण सुहानेरूप गुणकीर्तनरूप जो भाव धर्म है जो इसके गुणों का विकासरूप है, वह अपने ही गुणविकास का मानो मौन स्तवन कर रहा है। कोई जीव किसी का कुछ नहीं करता। यदि कोई किसी दूसरे के दोषों का ग्रहण कर रहा है तो दोषों के ग्रहण करनेरूप जो विकार का परिणमन हुआ है वह परिणमन हुआ है वह परिणमन एक अपने आपमें दोष के ग्रहणरूप है। सो अब उपयोग ऐसा स्वयं दोषरूप बनने पर हुआ है ना, अतएव उसने अपना ही दोष प्रकट किया है। यों समझिये कि सर्वस्थितियों में हम जो कुछ करते हैं अपने आपका ही किया करते हैं, दूसरे का कुछ नहीं करते। यह प्रशंसनीय ध्याता पुरुष काम भोगों से विरक्त होकर शरीर में स्पृहा को छोड़कर जो स्थिरपरिणमन से रह रहा है वह इसने स्व कार्य किया। ऐसा ध्याता प्रशंसनीय ध्याता प्रशंसनीय ध्याता है और हम अपनी ही शुद्धि के लिए ऐसे योगीश्वरों की शरण गहते हैं, इनके उपदेश को सुनते हैं, ग्रहण करते हैं।

## श्लोक-354

सत्संयमधुरा धीरैर्न हि प्राणात्ययेऽपि यैः ।

त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वराः ॥३५४॥

**आत्मसंयमी योगीयों की ध्यानधनेश्वरता** –जिन साधुजनों ने महान् साधुत्व को ग्रहण करके प्राणों का अत्यय होने पर भी जो संयम की धुरा को नहीं छोड़ते हैं वे ही ध्यानरूपी धन के अधिपति होते हैं। जिन पुरुषों ने अपने आपमें अमृतस्वरूप का परिचय पाया है यह मैं कदाचित् भी नष्ट होने वाला नहीं हूँ, मेरा जो सहजचैतन्यस्वरूप है उतना ही मात्र मैं हूँ। मेरा रिश्ता, मेरा सम्बन्ध मात्र मेरे से है, और यह मैं कभी मिटता नहीं, ऐसे निर्णय वाले पुरुष से यदि कहा जाय कि तुम यहाँ न बैठो वहाँ बैठजावो तो उसे क्या अड़चन होगी? यहाँ न बैठा वहाँ बैठ गया। यह मैं पूरा का पूरा ही हटकर यहाँ बैठा हूँ। कुछ

मुझमें से टूट गया हो और अब टूटकर यहाँ आ पाया होऊँऐसा तो नहीं है । ऐसे ही समझिये कि केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने अपने आपका अनुभव और स्वपरिचय रखनेवाले इन योगियों से कोई कहे – तुम इस भव से हटो, दूसरे भव में चलो । अच्छा भाई चलो । उसे कुछ अड़चन होगी क्या ? अड़चन मोही पुरुष मानते हैं कि बड़ा उद्यम करके इतना तो वैभव कमाया, घर बनाया और सबका सब यहीं छूटा जा रहा है, क्लेश तो उनके होता है । जो केवल अपने अमृतस्वरूप से ही नाता लगायें हों अर्थात् मैं यह अविनाशी ज्ञानस्वरूपमात्र ऐसा जो अपना उपयोग रखा करते हों उनको ऐसी भी स्थिति आये कि प्राण नष्ट होते हैं, इस भव को छोड़कर आगे जा रहे हैं तो उन्हें अटक नहीं होती । चाहे इस भव में रहें, चाहे मरण हो रहा हो । हाँ, अपने आपके स्वरूप से भ्रष्ट होने का उन्हें खटका होता है । यों प्राणों का अत्यय होने पर भी जो पुरुष साधुत्व को अङ्गीकार करके उस संयम की धुरा को नहीं छोड़ते वे ही ध्यानरूपी धन के ईश्वर होते हैं ।

**संयम से डिगने के व्यसनी जनों पर व्यसनसंपात** –भैया ! ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा से, संयम से थोड़ा सा डिगने की घटना उतना अनर्थ नहीं करती जितना कि उस डिगने की घटना से जो भावों में ऐसी शिथिलता आती है कि डिगने-डिगने की ही नौबत आती रहती है वह भयंकर होती है । जैसे लोक में दो बातें होती हैं ना – पाप करना और व्यसन करना । पाप जो हो गया वह तो पाप है और उस पाप की आदत बन जाय उसका नाम व्यसन है । तो पाप से बढ़कर व्यसन को खराब कहा गया है । ऐसे ही डिगते रहने की जो एक प्रकृति बन जाती है वह भयंकर होती है, अतएव जो विवेकी संतपुरुष हैं वे प्रथम बार भी डिगने की नौबत नहीं आने देते हैं । इस प्रकार जो अपने संप्रम की धुरी को नहीं छोड़ते वे पुरुष ध्यानरूपी धन के स्वामी होते हैं । ध्यानसिद्धि में आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और उस ही रूप आचरणरूप रत्नत्रय की बात बनती है । और इस रत्नत्रय की साधना से ध्यान की साधना बनती है । यों जो दृढ़ता से आत्मध्यान में रमण करते हैं वे ध्याता योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता हैं । उनका गुणस्मरण हमारे सतत बर्तों, जिससे ध्यान के लिए अपना उत्साह बराबर नवीन-सा बना रहा करे । यों ध्याता की प्रशंसा के प्रकरण में साधुसंतों की स्तुति की गई है ।

## श्लोक-355

परीषहमहाव्यालैर्ग्राम्यैर्वा कण्टकैर्दृढैः ।

मनागपि मनो येषां न स्वरूपात्परिच्युतम् ॥३५५॥

**जितपरीषहों की ध्यानकुशलता** –जिन साधुवों का चित्त परिषहरूपी महान् सर्पों से तथा ग्रामीण मनुष्यों के कंटकों से अर्थात् वचनरूपी काँटों से किञ्चिन्मात्र भी अपने स्वरूप से च्युत न हों वे पुरुष प्रशंसनीय ध्याता

होते हैं। जैसे कोई तृष्णा वाला काम हो और जल्दी-जल्दी आप उस कमरे के भीतर आये जाये तो उस काम की धुन में रहने के कारण यदि कुछ किवाड़ लग जाय या सिर में कुछ लकड़ी वगैरा लग जाय तो आपको कुछ पता नहीं पड़ता और न उसकी कुछ बैचेनी आपको होती, क्योंकि उपयोग में कुछ दूसरी ही बात समाई हुई है। इसी तरह से जिन साधनों के उपयोग में एक निजसहजज्ञानस्वरूप ही समाया रहता है और उसके ध्यान में उसके उपयोग में ही जो बसे रहा करते हैं वे ही परिषहों को भली-भाँति सह सकते हैं।

**ज्ञानबली योगियों का जितपरिषहत्व**—एक तो वे साधु जिनको यह भान नहीं है कि मुझ पर कुछ उपसर्ग हैं वे तो उच्च हैं और दूसरी श्रेणी में वे साधु हैं जिनके चित्त में बात आयी है कि ये उपसर्ग किए जा रहे हैं और फिर उन उपसर्गों को शान्ति से समता से सहन करें, दूसरे पर शत्रुता का भाव न लायें, और फिर तीसरी श्रेणी में उन साधुओं को समझिये कि जो परिषह उपसर्ग सहते तो हैं, शान्ति समता रखने का यत्न करते तो हैं, पर मेरे पाप कर्मों का बंध न हो आदिक विकल्पोंसहित उन परिषहों को समता से सहते हैं। और, फिर इसमें चौथी श्रेणी में अन्य परिषह सहने वाले साधु हैं, पर परिषह सहन करना उनका उत्कृष्ट प्रशंसनीय है जिनका परिषहसहन आत्मा के सहजस्वरूप की ओर उपयोग बना रहने के कारण होता रहता है। जिन साधुओं का चित्त परिषहों के कारण मलिन नहीं होता और ग्रामीण पुरुषों के दुर्वचनरूपी काँटों से भी जिनका चित्त अन्ध नहीं होता वे ध्याता योगीश्वर प्रशंसनीय हैं।

**योगियों का दुर्वचनपरीषहविजय**—साधुओं को ग्रामीण पुरुषों का समागम, अथवा उनके निकट से आना जाना यह उनके निकट शहरी लोगों के आने जाने के मुकाबिले बहुत रहता है, उसका कारण यह है कि साधु एकान्तवासी होते हैं वन उपवनों में रहा करते हैं तो वहाँ आस-पास के निकट के ग्रामीण लोगों का उनका अपने ही मार्ग से आना जाना रहता है। और इन साधुओं में यह बहुत सम्भावना है कि कोई ग्रामीण कुछ कह रहा है कोई कैसा ही कह रहा है, पर दुर्वचनों के कारण जो स्वरूपभ्रष्ट नहीं होते वे साधुजन प्रशस्त ध्याता हैं। बात बहुत सुगम है और बहुत कठिन है। कोई पुरुष कैसी भी बात कहे उस बात को सुन ले उसके कारण चित्त में विकल्प न बनाये, क्षोभ न करे, यह सरल तो इसलिये है कि जो कोई कुछ कहता है वह अपने कषाय की चेष्टा करता है, दूसरे में क्या करता है, या जैसे लोकव्यवहार में कहते हैं कि अपने ही गाल बजाते हैं, दूसरे का क्या करते हैं। तो जब प्रतिव्यक्तिगत अस्तित्व ध्यान में है तब तो ये सब बातें बड़ी सुगम हो जाती हैं, और जब न अपने का ही सही पता, न दूसरे का ही सही पता, किन्तु यह मैं हूँ, इसने मुझे यों कहा, इस तरह पर्यायों में ही स्व और पर की बुद्धि रखकर जो ज्ञान होता है, जो कल्पनाएँ बनती हैं उन कल्पनावों के होते सन्ते किसी के कोई वचन सहन कर लेना, खोटे, गालीगलौज के, निन्दा के वचन सहन कर लेना बहुत कठिन है।

**विदितसहजानन्द योगियों के ध्यान की प्रशंसनीयता**—आनन्द का सम्बन्ध प्रत्यक्षज्ञान से है। यों तो आनन्द का परिणामन किसी-किसी रूपमें सदैव चलता है और ज्ञान भी सदैव रहता है किन्तु विशुद्ध आनन्द प्रत्यक्ष ज्ञान का अविनाभावी है, चाहे वह किसी के आत्मप्रत्यक्ष के रूप में हो, स्वानुभव प्रत्यक्षरूप में हो, तात्पर्य यह है कि परपदार्थों का आलम्बन करके जो ज्ञान जगता है उस ज्ञान के साथ आनन्द प्रकट होता है,

जैसे जिसे बहुत विशिष्ट आनन्द आ रहा हो वह छोटी-छोटी बातों पर चित्त नहीं देता, लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है। तो जिन साधुओं को स्वभाव का आलम्बन लेने के कारण एक विशुद्ध आनन्द जग रहा है वे साधु ग्रामीणजनों के या किसी के दुर्वचनों पर चित्त में क्षोभ नहीं लाते, ऐसे ही साधुजन प्रशंसनीय ध्याता होते हैं।

## श्लोक-356

क्रोधादिभीमयोगीन्द्रै रागादिरजनीचरैः ।

अजय्यैरपि विध्वस्तं न येषां यमजीवितम् ॥३५३॥

विकारों से अविध्वस्त संयम वाले योगियों के ध्यातृत्व की प्रशंसा –जिन मुनिराजों का संयम रूपी जीवन क्रोधादिक कषाय रूपी भयंकर सर्पों से और रागादिकरूपी पिशाचों से नष्ट नहीं होता ऐसे योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता होते हैं। धर्मपालन के लिए बहुत-बहुत सामाग्री में यदि व्यग्र नहीं होना चाहते और सीधा एक रूप में ही एक आश्रय लेना चाहते, कि हम क्या करने लगे कि हमारे में धर्मभाव प्रकट हो, और जो कुछ भी श्रेय है, कल्याण है, सब कुछ मंगल हमें प्राप्त हो, तो एकमात्र यह दृष्टि रख लीजिए कि मेरा जो सहजस्वरूप है, पर की अपेक्षा किए बिना अपने आप अपने सत्व के कारण मेरा जो सहजस्वरूप है तन्मात्र मैं अपने आपको निहारता रहूँ, बस एक इस काम को पकड़ लीजिए। फिर परिस्थितिवश इस एक शुद्ध दृष्टि के जगने पर, मन, वचन, काय की जो प्रवृत्तियाँ उचित होनी चाहियें वे सब अनायास थोड़े से ही साधनों में अनायास होती रहेंगी। पर लक्ष्य में हम कौन सी एक बात पकड़ लें कि जिसके सहारे हमारा उद्धार हो सके? यत्न करें अपने आपके सहजस्वरूप के दर्शन का, और इस पावन कर्तव्य के लिए हम वस्तुस्वातंत्र्य के निरखने के प्रेमी बनें।

आश्रेय तत्त्व –विज्ञान में सब बातें आती हैं निर्णय रखकर समझ लीजिए, पर हम किस दृष्टि की शरण जायें, किस भावना की शरण जायें, उसकी बात कही जा रही है कि शरण जाने योग्य तो केवल सहजस्वरूप है। सहजस्वरूप का आलम्बन ही हमारा शरण है। चूँकि यह निर्विकल्प एकत्वस्वरूप है इस कारण निर्विकल्प एकत्वस्वरूप निजभाव के दर्शन और उपयोग बनाये रहने के लिए हमें अपनी दृष्टि अधिकाधिक समयों में इस सहजस्वरूप की ओर लगानी चाहिए। बहुत-बहुत विभिन्न पदार्थों का आश्रय करने में बुद्धि डोलती ही रहती है और अपने आपके स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाती। नानाप्रकार के धार्मिक ज्ञानों का प्रयोजन भी एक इस निर्विकल्प आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठित होने का है, तो हम बहुत समय बहुत उपयोग के साथ इस अध्यात्मतत्त्व के दर्शन का यत्न रखें तो हमें कुछ इस सम्बन्ध में दृष्टि जग सकती है।

अलब्ध परमलभ्य तत्त्व की उपलब्धि के लिये पुरुषार्थ का अनुरोध –भैया ! व्यवहार और विविध अनेक प्रसंगों में तो इस जीव का अनन्तकाल व्यतीत हुआ किन्तु इसे अपने आपके सहजस्वरूप की दृष्टि प्राप्त नहीं हुई । जो बात अब तक प्राप्त नहीं हुई उस हितरूप तत्त्व की प्राप्ति के लिए हमें कितना अधिक उपयोग इस निर्विकल्प की ओर लगाना चाहिए ? उत्तर तो साधारणरूप से यह आयगा कि सारा समय लगायें, पर थोड़ा भी लगता कहाँ, यह कोशिश करें कि हम इस द्रव्यदृष्टि का, अपने आपके अविनाशी निर्विकल्प ज्ञानमात्रस्वरूप का अधिकाधिक उपयोग किया करें । इसके लिए हम किसी भी वस्तु को जानें, केवल उस एक को जानने का, निहारने का पुरुषार्थ रखा करें । यह भावना, सहजस्वरूप का अवलम्बन किया जाने से ये क्रोधादिक कषायें शीघ्र शान्त हो जाती हैं । तो जिन साधुजनों के ये कषायें नहीं हैं अथवा इन क्रोधादिक कषायों से जिनका संयम नष्ट नहीं हुआ, अथवा इन रागादिक निशाचरों से जिनका संयमन नष्ट नहीं हो सकता वे ध्याता योगीश्वर प्रशंसनीय हैं ।

### श्लोक-357

मनः प्रीणयित्तुं येषां क्षमास्ता दिव्ययोषितः ।

मैत्र्यादयः सतां सेव्या ब्रह्मचर्येप्यनिन्दिते ॥३५७॥

परमब्रह्मचारियों की मैत्र्यादिक की उपासना में समता का उत्कर्ष –जिन मुनियों के आनन्दित ब्रह्मचर्य है, प्रशंसनीय ब्रह्मचर्य की साधना है, उन मुनियों के इससे आगे की कुछ ये विशेषताएँ बनें – मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ । ये चार भावनाएँ बनें तो उनकी कषायें शीघ्र नष्ट होती हैं । ये चार प्रकार की भावनाएँ समता की प्राप्ति के लिए हैं । सब प्राणियों में मैत्रीभाव रखना । सब प्राणियों में मित्रता कब रह सकती है ? लोकव्यवहार में भी किसी मित्र से मित्रता कब रहा करती है ? जब मित्र के प्रति समान बुद्धि रखें । यदि दूसरे को अपने से छोटा व बड़ा मानते हैं तो मित्रता नहीं निभती । सबको समान देखें, ऐसे योगी ही सब जीवों के प्रति मित्रता बर्त सकते हैं । तो मैत्रीभाव में समता की ही बात आयी । और फिर दूसरी बात यों देखिये कि मैत्री कहते हैं कि प्राणियों के आत्मा को दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना । जो मित्र होता है वह अपने मित्र के प्रति यह हृदय रखता है कि इसे कभी दुःख न हो । किसी दूसरे के दुःख के अभाव की वाञ्छा उसके ही जग सकती है जिसने अपने समान दूसरे को भी समझा है ।

कारुण्य में समता का स्थान –जब कभी किसी प्राणी के प्रति उसका दुःख निरख कर चित्त में ऐसी इच्छा होती है कि इसे दुःख यह न रहे उस काल में अन्दर ही अन्दर गुप्तरूप से एक उस जीव से बेतार का तार मिला लेना है, तब इच्छा जगती है अर्थात् उसके स्वरूप के समान अपने आपको समझा है तब चित्त

में बात उत्पन्न होती कि इसे दुःख न हो । एक मोटी सी ही बात देखो – कोई पुरुष किसी भीत को पीट रहा है, कुदालियां मार रहा है ऐसा निरखकर तो किसी के चित्त में यह बात नहीं आती कि अरे यह पिटे नहीं, और कोई किसी कुत्ते को ही पीट रहा हो तो उसे निरखकर चित्त में करुणा उत्पन्न होती है और अभिलाषा होती है कि इसे पीड़ा न हो । इससे साफ बात है कि भीत में समान बुद्धि नहीं है और उस कुत्ते में मेरा जैसा ही जीवस्वरूप है यह बात भीतर में निर्णीत है तब यह दुखानुत्पत्ति की अभिलाषा जगती है, फिर यहाँ तो परममित्रता की बात है कि सब जीवों में मित्रता का परिणाम हो ।

**मोह में परमार्थ मैत्र्यभाव का अभाव** –लोग समझते हैं कि घर-घर में तो मित्रता रहती है और मैत्री भाव से कल्याण होता है, कर्म कटते हैं, सो देखो ना, परिजनों में कैसी ही मित्रता है । स्त्री से मित्रता, पुत्र से मित्रता, कुछ जरा सा कष्ट हो जाय तो बड़ी बैचेनी हो जाती है । रात दिन यह भावना करते कि इनको दुःख न हो, इनका दुःख कब मिटे । तो परिजन से, कुटुम्ब से जो इतनी मित्रता रखी है तो इससे तो मोक्षमार्ग निभ रहा होगा ? सब जीवों में से दो चार जीवों को छँटकर उनमें मित्रता रखे, उनकी सेवा करे, इसे मोह का चिन्ह बताया है । यह मित्रता नहीं है । सब जीवों के प्रति मित्रता जगे यह भाव एक विशुद्ध ज्ञान में ही सम्भव है । किसी की कषाय से कषाय मिल गयी और मित्रता बन गयी तो उसका व्यापक विषय तो नहीं रहा । किसी का विरोध कोई रख रहा हो और उसी से विरोध कोई दूसरा रखता हो तो वे दोनों फिर यार बन जाते हैं । यही बात देशों की है, यही बात व्यक्तियों की है । जो विशुद्ध मित्रता के परिणाम को धारण करते हैं वे ध्याता योगीश्वर प्रशंसनीय हैं ।

**गुणिप्रमोद में समता का उत्कर्ष** –दूसरी भावना है प्रमोद । गुणियों को देखकर चित्त में उल्लास उत्पन्न हो जाना, यह भी समता के लिए है । गुणियों को देखकर उल्लास उनके ही हो सकता है जिनको गुणों में प्रेम है । और गुणों के यथार्थ स्वरूप के अवगम के समय कोई सीमित व्यक्ति आधार विदित नहीं होता है अर्थात् गुणपूजा में भले ही किसी व्यक्ति का लक्ष्य करके गुणों की उपासना है पर गुण तो गुणी में रहकर भी "गुणी में रहने वाले गुण" इस दृष्टि से देखने पर गुण का सही स्वरूप अनुभव में नहीं आता । जैसे चैतन्यस्वरूप । कोई पुरुष चैतन्यस्वरूप की भावना करे और इस तरह भावना करे कि हम तो इसके चैतन्यस्वरूप की भावना करते हैं तो चैतन्यस्वरूप की भावना न बनेगी । इस ही दृष्टि के एकान्त में ज्ञानाद्वैत ब्रह्माद्वैत निकल आये और वे एकान्त यों बन गए कि इस दृष्टि के करने से लाभ लेने का भाव तो छूट गया, पर एक हठ बन गयी कि केवल ज्ञान अथवा चित्स्वरूप यह निर्गुण वही एक तत्त्व है और ये सब मिथ्या हैं, व्यक्तिरूप सत् नहीं माना ।

**द्रव्यदृष्टि से निरखने में समता की परमार्थ साधारता** –द्रव्यदृष्टि में जैनशासन में भी पूर्णस्वरूप कहता है । और उन एकान्तियों ने तो एक ब्रह्म है यों माना, पर जिनशासित दृष्टि वाले ध्यातावों ने वह एक है इसका भी खण्डन किया, वह एक भी नहीं है । तो अनेक है क्या ? अनेक भी नहीं है किन्तु वह तो वही है । केवल एक स्वरूप की उपासना है । एक और अनेक तो व्यक्तित्व को प्रसिद्ध करता है तो गुणों के गुणियों के प्रसंग में जो गुणों में प्रमोद जगता है वह अपने आपके गुणों को छूता हुआ और गुणों से गुणों का

अन्तःमिलान करता हुआ वह प्रमोद उत्पन्न होता है उसमें भी समतापरिणाम ही आया । यों ही दया में समता मूल निबंधन हैं और मध्यस्थभाव में तो समता शब्द से ही प्रकट है । इस प्रकार समता की भावना में रहने वाले योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता होते हैं ।

## श्लोक-358

तपस्तरलतीव्रार्चिःप्रचये पातितः स्मरः ।

यै रागरिपुभिः सार्द्धं पतङ्गप्रतिमीकृतः ॥३५८॥

**निष्काम योगियों की ध्यातृता का आदर्श** –जिन साधुओं ने तपश्चरण रूपी तीव्र अग्नि की ज्वाला में रागादिक शत्रुओं के साथ काम को भी भस्म कर दिया ऐसे योगीश्वर ही प्रशंसनीय ध्याता होते हैं । जैसे अग्नि की ज्वालाओं में पतंगें भस्म हो जाते हैं, एक यह लौकिक दृष्टान्त दिया । ऐसे ही साधुओं के तपश्चरणरूपी अग्नि की ज्वाला में रागादिक विकार और काम ये सब भस्म हो जाया करते हैं । शान्ति और आनन्द ज्ञान की उज्वलता के साथी हैं । मलिन ज्ञान के साथ आनन्द नहीं निभता । जहाँ आत्मसमृद्धि उत्पन्न हुई हो वहाँ ही आनन्द टिकना रह सकता है । आत्मसमृद्धि मौज और सांसारिक पद्धतियों से नहीं मिलती । किन्तु, अपने इस ज्ञायकस्वरूप की प्राप्ति के उपाय में बड़े-बड़े परिषह उपसर्ग उपद्रव आयें और उन्हें सहन कर सकें, जिसकी अर्न्तध्वनि यह उठती है कि विपदाओं तुम प्रिय हो, हितकारिणी हो, आत्मविशुद्धि तुम्हारे प्रसाद से प्रकट हो सकती है, ऐसी जिसके विपदाओं के प्रति सम्पदाओं से अधिक आस्था है ऐसे ज्ञानी योगीश्वर ही इन समस्त क्लेशों को दूर कर सकते हैं । एक बात अपने जीवन में यह सीख लेनी चाहिए कि इन सांसारिक सुखों से मेरा हित नहीं है । जितना यह शिक्षण ध्यान में रहेगा उतनी ही विशुद्धि बढ़ेगी ।

**यथा तथा जीवन बिताने का अन्तिम परिणाम** –भैया ! जीवन है चलेगा, चाहे सम्पदाओं में मौज में रखकर चलावो तो चलेगा और विपदा संकटों का सामना खुशी खुशी कर करके चलावो तो चलेगा । अब जो अपनी सच्चाई के लिए अपनी भाव भासनासहित विपदाओं को समता से सहन कर अपना जीवन चलायें उन्हें विशुद्ध आनन्द प्रकट हो सकता है और जो कुछ काल के लिए मौज-मौज के ही साथी बने हैं, मौज का ही मन में आह्वान किया करते हैं ऐसे कायर व्यामोही पुरुषों को आत्मोपलब्धि की साधना नहीं बन सकती है । जैसे यह मनुष्यजीवन व्यतीत हो रहा है, चाहे कोई खुदगर्ज रहकर अपनी जिन्दगी बिताले और चाहे कोई परोपकार करके अपनी जिन्दगी बिता ले, जीवन बीतने के बाद अर्थात् बड़ी उम्र में, वृद्धावस्था में कहीं यह अन्तर न आ जायगा कि परोपकार में जीवन बिताने वाले तो निर्बल हो गए, अधिक बूढ़े हो गए, और आराम में, खुदगर्जी में, प्रमाद में रह रहकर जीवन बिताने वालों के शरीर में

कुछ खासियत पैदा हो गयी । लेकिन मन की प्रसन्नता में अवश्य अन्तर है । परोपकार करके, मोह छल, कपट से दूर रहकर जिसका जीवन व्यतीत हुआ है उसके अन्तर में बड़ा बल है और प्रसन्नता है ।

**ससदाचार जीवन का महत्त्व** –कोई पुरुष बड़े हृष्ट पुष्ट भी देखे जाते हैं और उनके शरीर में कान्ति चमक-दमक भी है, बड़ी अच्छी सुकुमारता से बड़े भोगों से जिनका जीवन व्यतीत हो रहा है ऐसे भी बड़े धनिक पुरुषों के जो शरीर से बलिष्ट दिखते हैं उनके दिल में कमजोरी ऐसी विशेष भी पायी जा सकती है कि जिससे एक स्थूलकाय बलिष्ट से होकर भी अन्तर में कायरता और अति दुर्बलता का अनुभव करते हैं और निरन्तर मरने का संदेह भी बनाये रहते हैं । वह किस बात का अन्तर है ? जिसका मन परसेवा, दया, दान, तपश्चरण, परमार्थ, प्रीति आदिक उपायों से बलिष्ट नहीं बन सका वह मन नाना खुदगर्जियों में स्वार्थ भरे विषय सम्बन्धी कल्पनाओं के भार से शीर्ण हो रहा है और ऐसे शीर्ण गले मन में वह बल उत्पन्न नहीं हो पाता, यह सब अन्तर किसी बात का है ? सदाचार का, सच ज्ञान का, सम्यक्त्व का जिनके पालन है ऐसे पुरुष शरीर से वृद्ध निर्बल क्षीणकाय होकर भी उनके मनोबल, वचनबल और कायबल भी सही रहा करता है । अतः सुख में फूलें नहीं, समागम में विश्वास करें नहीं, वर्तमान पुण्य की परिस्थिति में मौज मानें नहीं इन सबको मायारूप जानकर इनसे उपेक्षाभाव करके अपने आपके अन्दर ज्ञान और आनन्द के लिए उत्सुक रहना चाहिए ।

## श्लोक-359

निःसङ्गत्वं समासाद्य ज्ञानराज्यं समीप्सितम् ।

जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूतं विचेष्टितम् ॥३५९॥

**निःसङ्ग ज्ञानयोगियों का ध्यातृत्व** --जिन्होंने निष्परिग्रहता को अंगीकार करके जगत्रय में चमत्कार करने वाले विलक्षण अद्भुत चेष्टायुक्त ज्ञानसाम्राज्य की वाञ्छा की है वे ध्याता योगीश्वर प्रशंसा के योग्य हैं । जिसके केवल एक यही अभिलाषा है – मेरा स्वरूप सहजज्ञान है और इस सहजज्ञान का मैं उपयोगी ही रहा करूँ व्यर्थ की परवस्तुओं में जो मेरे तेरे की कल्पनाएँ हो जाती हैं, जिनमें सार का नाम नहीं है, सभी अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ हैं उनमें जो व्यर्थ कल्पनाएँ जगती हैं वे विपदा है, और उस विपदा से हमारा छुटकारा हो, ज्ञानसुधा रस का हमारा पान रहा करे ऐसी जिनके अभिलाषा जगती है और केवल अपने आपके ज्ञानसाम्राज्य को ही, ज्ञानविकास को ही चाहते हैं, अपने से बाहर किसी भी जगह अन्य कुछ भी वाञ्छा नहीं रखते हैं ऐसे योगीश्वर ध्याता प्रशंसा के योग्य हैं ।

**तत्त्वरुचि तत्त्वसम्बन्धित अर्थ का अनुराग** –जिसे जिस तत्त्व की रुचि होती है उस तत्त्व से सम्बंध रखने वाले अन्य-अन्य भी पदार्थों की प्रशंसास्तुति किया करते हैं ऐसे भी लोग जिनसे कुछ समानता भी नहीं

उनका भी आदर अभिलषित वस्तु की वजह से लोग किया करते हैं । जैसे आपका किसी ग्राम में कोई अतीत इष्टमित्र रहता हो, मानो किसी की स्वसुराल ही हो, उस गाँव से, कोई अन्य जाति का भी पुरुष निकले तो उसे स्त्री की प्रीति के कारण उन गाँव वालों की भी बड़ी सेवा करके घर में रखते हैं, और बात करते हैं तो बीच बीच में उस घर की कुशल क्षेममंगल की बात भी पूछा करते हैं, रुचि में ऐसा हुआ ही करता है । ऐसे ही समझिये कि जिन योगीश्वरों को, सम्यग्दृष्टिजनों को ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्व की रुचि जगी है वे पुरुष इस अन्तस्तत्त्व का सम्बन्ध रखने वाले सम्यग्दृष्टिजन हों, साधुजन हों, प्रभु हों उन सबमें आस्था करते हैं और अपनी शक्तिभर उनकी सेवा में, उपासना में समय बिताते हैं । यों ही इस न्याय से अधिकार में ध्याता योगीश्वरों की प्रशंसा की जा रही है धन्य हैं वे ध्याता । जैसे जिनको ईष्या नहीं है ज्ञान से, विद्वेष नहीं है, आत्महित के अभिलाषी हैं ऐसे पुरुष किसी ज्ञानी आदर्श पुरुष को निहारकर उसके गुणानुवाद में ही अपने उपयोग को सफल करते हैं, उनके हिचक नहीं होती है क्योंकि उनका ध्यान, उनकी रुचि उस तत्त्वपर है जिस तत्त्व की प्राप्ति किसी अन्य ज्ञानी संत ने की हो, तो उससे गुणानुवाद बिना वह रह नहीं सकता और ऐसा गुणानुवाद अपने आपके गुणरुचि का द्योतक है ऐसे ही ये आचार्यदेव इस प्रकरण में ध्यान की विधियों को बताने से ही पहिले ध्याता योगीश्वरों की प्रशंसा कर रहे हैं, धन्य हैं वे योगीश्वर, धन्य है वे ध्याता कि एक सहजज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए निःसंगता को निष्परिग्रहता को अंगीकार किया और केवल एक ज्ञानसाम्राज्य की ही वाञ्छा रखें, अन्य समस्त वाञ्छाओं और विकल्पों का परिहार कर दें वे योगीश्वर ध्याता प्रशंसनीय है, ध्यान की सिद्धि के पात्र हैं ।

### श्लोक-360

अत्युग्रतपसात्मानं पीड्यन्तोऽपि निर्दयम् ।

जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥३६०॥

तपश्चरण में शान्ति का लाभ –जो मुनि अपने को अति तीव्र तप से निर्दयी के समान पीड़ा किया करते हैं अर्थात् शरीर से रंच भी राग नहीं है, मोह नहीं है इसलिए कितना ही शरीर से कायक्लेश उठाते हो उन सब तपश्चरणों में जो रुचिपूर्वक रहा करते हैं, तो देखने में तो यों लगता है कि ये साधुजन अपनी आत्मा को बहुत पीड़ितकर रहे हैं लेकिन वे अपने आपमें भी शान्ति का अनुभव करते और इस मोहरूपी अग्नि से जलते हुए जगत को भी शान्ति प्रदान करते हैं । सब कुछ बात एक दृष्टि पर निर्भर है । जिनकी दृष्टि विशुद्ध हो गयी, समस्त जगत से निर्लेप, निर्मल अपने आपका निर्णय करके अपने को केवल ज्ञातादृष्टा रहने देने के ही पक्षपाती बनते हैं, अन्य और कुछ धुन नहीं है ऐसे पुरुष अपने आपमें भी शान्ति का विस्तार करते हैं और दूसरे जीव भी उन संतों के प्रसंग संग में बसकर शान्ति का अनुभव किया करते हैं

। तपश्चरण से इस आत्मा को कुछ हानि नहीं है, लाभ ही लाभ है, किन्तु जो शरीर के व्यामोही पुरुष हैं वे तो इस शरीर के पुष्ट करने वाले विषयों में ही अनुराग रखते हैं, उन्हें तपश्चरण से प्रीति नहीं जगती, किन्तु प्रसन्नता तो एक सच्चाई और शुद्धाशय के साथ रहने में हुआ करती है ।

## श्लोक-361

स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिताः ।

तृष्णार्चिःशान्तये धन्या येऽकालजलदोद्ग माः ॥३६१॥

तृष्णाग्नि की शान्ति में समर्थ ज्ञानमेघमाला के उद्गम ध्यान –मुनीश्वर धन्य हैं जो रत्नत्रयरूप अग्नि की ज्वाला को शान्त करने के लिए मेघ के उदय के समान हैं । जैसे कहीं बड़ी तेज अग्नि जल रही हो तो उसे शान्त करने के लिए मेघ बरष जायें, इससे बिढ़याऔर कोई उपाय नहीं है, ऐसे ही यह ज्ञानरूपी मेघमाला अग्नि को शान्त करने में पूर्ण समर्थ है । सम्यग्ज्ञान ही एक ऐसा विलक्षण मेघ है कि तृष्णा की महिती ज्वालावों को भी बुझा देता है । जैसे जो आग घर में छिपी हुई जल रही है उसका बुझना तो दूर रहा, मेघों का सामना भी नहीं हो सकता ऐसे ही मायाचार के घर में छिपाकर रखी हुई कषाय हो तो उसे सम्यग्ज्ञान का सामना ही नहीं मिल सकता, बुझाने की तो चर्चा ही क्या हो । वे मुनीश्वर धन्य हैं, उनका आनन्द अकेले में भी उत्पन्न हो रहा । जैसे कि बैसाख जेठ की तीव्र गर्मी हो और कहीं लग जाय आग और तेजी से मेघ बरष जायें तो इसे लोग कहने लगते कि सब कुछ भगवान ने ही भेजा है, अवसर तो कुछ था ही नहीं, असम्भव बात बन गयी । उसे लोग एक भगवान का भेजा हुआ, भगवती शक्ति का चमत्कार कहने लगते हैं यों ही समझिये कि अकाल में ही जहाँ चाहे जैसे प्रसंग में किसी भी घटना में यह स्वानुभव विवेकी जल का उदय हो जाया करता है ज्ञानीसंतों के और उससे कषायों की दाह शान्त हो जाती है, स्वयं की भी और उनके निकट रहने वाले अन्य पुरुषों की भी । बात असल यह है कि जिनको सांसारिक मायारूप विभूति से प्रीति नहीं है किन्तु एक अपनी सहज ज्ञानकला में ही प्रीति है जिसमें न कोई दिखावट, न बनावट न सजावट है, गुप्त ही गुप्त अपने ही आपमें भीतर ही भीतर सरककर मग्न होने की ही जहाँ धुन है ऐसे शुद्ध आशय वाले योगीश्वरों के आनन्दमेघ का उदय चलता ही है जिससे उनके कषायों की दाह उत्पन्न नहीं होती, ऐसे योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता हैं ।

## श्लोक-362

अशेषसङ्गसन्न्यासवशाञ्जितमनोद्विजाः ।

विषयोदाममातङ्ग घटासंघट्टघातकाः ॥३६२॥

**सकलसङ्गसन्न्यासियों का ध्यातृत्व** –जो मुनीश्वर सर्वपरिग्रहों के त्याग के कारण मनरूपी पक्षी को जीत लेते हैं – जैसे पक्षी अति चंचल है, बन्दर भी अति चंचल है, न पक्षी शान्त रहकर किसी जगह बैठा रह सकता है, फुदकेगा, आगे जायगा, पीछे जायगा, पंख चलायेगा, उड़ेगा, यों कुछ न कुछ हरकत करता ही रहता है ऐसे बंदर भी अति चंचल है । कहीं हाथ पैर हिलायेगा, कहीं सिर हिलायेगा, कहीं आँख मटकायेगा, उनसे भी चंचल है मन । मकान में ही बैठे बैठे जाने मन कहाँ-कहाँ दौड़ जाता है, न जाने क्या-क्या सोच डालता है, कुछ रुकावट की भी बात नहीं है, ऐसा अति चंचल मन जिन्होंने निःसंगता निष्परिग्रहता के उपायों से जीत लिया है और जिन्होंने मदोन्मत्त कर लिया, उनका विनाश कर दिया है ऐसे योगीश्वरों के ध्यान की सुगम सिद्धि होती है । यों कह लीजिए कि अधिक से अधिक गरीब बन जायें तो ध्यान की सिद्धि होगी । दुनिया में जैसे ऐसा कोई पुरुष नहीं मिलता कि अच्छी तरह से धनी हो तो ऐसे ही ऐसा भी कोई पुरुष न मिलेगा जो पूरी तरह से गरीब भी हो । गरीबों से भी गरीब देखोगे तो भी उसके पास कुछ न मिलेगा, और धनी से धनी को भी देखोगे तो वहाँ भी कुछ कमी मिलेगी । पर ऐसा गरीब हो कोई, अत्यन्त आकिञ्चन, कि देह तक को भी ग्रहण न करे उपयोग में, अपने आपके एकत्व की ओर ही जिसका उपयोग रहे, सबका परिहार है, कुछ भी साथ नहीं हैं, यहाँ तक कि रागद्वेषादिक विकारों का भी ग्रहण नहीं है, सब कुछ हट गया है, केवल निजसहजस्वरूप ही जिसके स्वरूपगृह में पड़ा है ऐसा आकिञ्चन पुरुष ही उस परमआनन्द की सिद्धि का पात्र है जो आनन्द स्वाधीन है, सदाकाल रहा करता है, ऐसे निःसङ्ग, निष्परिग्रह, आकिञ्चन केवल ज्ञानस्वभाव को ही रुचि करने वाले योगीश्वर प्रशंसा योग्य हैं । उनके गुणस्तवन से, गुणध्यान से हम अपने आपमें भी उस ही प्रकार ध्यानसाधना का यत्न करें जिस मार्ग से चलकर वे ज्ञानी ध्यानी पुरुष आनन्दमग्न हुए हैं ।

## श्लोक-363

वाअथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।

शरीराहारसंसारकामभोगेषु निःस्पृहाः ॥३६३॥

**ध्यानसिद्धि के पात्र** –जिनका माहात्म्य वचनपथ से अतीत है अर्थात् जिनका महत्व वचनों से प्रकट नहीं किया जा सकता है, जो समस्त विद्याओं में समर्थ हैं और शरीर आहार संसार कर्म भोग इससे निष्पृह हैं वे पुरुष ध्यान सिद्धि के पात्र कहे गये हैं । जो संत सम्यग्ज्ञानी हैं और सम्यग्ज्ञान से सम्बन्ध रखकर फिर समस्त विद्याओं के पारगामी हैं वे ही ध्यानसिद्धि के पात्र हैं, क्योंकि ध्यान में मुख्यता है सम्यग्ज्ञान की । किस पर लक्ष्य रखना है, किसके ध्यान से सिद्धि होगी ऐसा जिसे परिचय ही नहीं है वह ध्यान किसका करेगा ? अतएव ध्याता को सर्वप्रथम यथार्थवेक्ता होना ही चाहिए । और फिर यदि कुछ विरक्ति नहीं है तो भी ध्यानसिद्धि नहीं बन सकती । बाह्य पदार्थ जो जहाँ हैं वहीं हैं, हम यहाँ अपने आपमें हैं, हमारे कुछ सोचने के कारण बाह्य पदार्थों में कुछ बन बिगड़ नहीं जाता । हम अपने आपमें ही अपनी कल्पनाओं से अपना सोच विचार किया करते हैं । बाह्यपदार्थों का मुझमें अत्यन्ताभाव है, फिर उनमें राग क्यों ? ऐसा यथार्थ ज्ञान करके जो पुरुष बाह्य विषयों से निष्पृह हो जाते हैं उनके ध्यान की साधना बनती है ।

**शरीर की अरम्यता** –यह शरीर भी राग के योग्य नहीं है । यह भी भिन्न पदार्थ है और जो साथ लगा हुआ है यह आनन्द देने के लिए नहीं है किन्तु संसार में भटकने के लिए और क्लेशयुक्त बनाने के लिए यह साथ लगा हुआ है । इसके राग में आत्मा का कुछ हित नहीं सिद्ध होता है । राग के योग्य है भी क्या शरीर में ? भीतर से बाहर तक सब कुछ दुर्गन्धित मल से भरपूर है । इसमें कुछ भी तो सारभूत बात नहीं है । यहाँ राग करना योग्य है ही नहीं । आहार की एक वेदना होती है, क्षुधा हुई है, भूख हुई है, उसका इलाज है आहार । आहार कोई सुख का साधन नहीं है, आहार कोई हितरूप नहीं है, एक किसी स्थिति में वेदना का प्रतीकार है । सो केवल एक भूख मिटाने के लिए आहार किया जाय उसमें तो फिर भी कुछ ईमानदारी है, लेकिन अपने रसीले स्वाद का शौक पूरा करने के लिए जो नाना तरह के व्यञ्जन बनाते बड़े श्रम से और उनका उपयोग करते हैं और उनके लिए ही चिन्तातुर रहते हैं, बड़े बड़े साधन जोड़ने पड़ते हैं, ये तो सब अनर्थ और व्यर्थ की बातें हैं ।

**विषयसाधनों से आत्मा का अलाभ** –एक थोड़ा ऐसा भी ख्याल लायें कि बहुत-बहुत अपने आराम के साधनों में, आहार में, खानपान में कितना खर्च किया होगा अब तक । जिनको पान, बीड़ी, सिगरेट आदिक का शौक है, बड़े जेब-खर्च बड़े हुए हैं उनकी ये सब व्यर्थ की बातें हैं । सनीमा देखने में २) खर्च कर दिया तो उससे क्या लाभ हुआ ? अरे २) से तो तीन चार आदमियों का पेट भी भर सकता है । कितना भी खर्च किया जाय पर उस खर्च के बावजूद भी आज इसके पास है क्या, जिससे यह जाना जाय कि बहुत साधन जुटाया तो आज कुछ भरे पूरे हैं । सो भरे पूरे की भी बात क्या है ? कल्पना करो कि बड़े सादे जीवन से रहे होते तो जो व्यय किया गया उसका एक चौथाई व्यय हुआ होता । तीन गुना जो व्यय होता है वह परोपकार में, दान में, सेवा में, धर्मकार्य में किसी में लगाया होता तो उसका आज सन्तोष होता, लोग आभार मानते, स्वयं के पुण्यवृद्धि होती । इस लोक के हिसाब से और परलोक के हिसाब से भी नफा ही रहता । लेकिन क्या कर डाला ? स्वाद के लोभ में आकर आहार में जो रागबुद्धि और रागप्रवृत्ति की उससे जीव को लाभ कुछ नहीं होता । ज्ञानी संत आहार की तृष्णा से विरक्त हैं ।

आहार से विरक्त हैं उन्हें तो यह विवेक समझाता है – उठ लो आहार को, नहीं तो अपने तप और संयम की साधना के योग्य भी देहबल न रह सकेगा । तो विवेक जबरदस्ती साधुओं को आहार करवाने को उठाता है, पर जो साधु हैं, आत्मसाधना में ही जिनका चित्त बसा है वे ही आहार से विरक्त हैं ।

**विरक्ति से ध्यान की पात्रता** – भैया ! अनेक व्यर्थ सांसारिक बातें हैं बातचीत, नाम, प्रतिष्ठा आदि, इनसे विरक्ति हो, काम भोगों से विरक्ति हो तो ऐसे निष्पृह साधु ध्यान साधना के पात्र होते हैं, ध्यान की साधना सबको चाहिए । उत्तम ध्यान, शान्ति दिलाने वाला ध्यान गृहस्थों को भी चाहिए । तो जो उपदेश मुनियों को दिया गया है वही उपदेश सबको है । मुनि उसे बहुत निभा सकते हैं, गृहस्थ उसे कम निभा सकते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि मुनि आहार शरीर आदिक से विरक्त हों तो ध्यान कर सकते हैं और गृहस्थ आहार शरीरादिक में खूब अपनी विशेषता बनायें तो ध्यान कर सकते हैं ऐसा तो नहीं है । ज्ञान और वैराग्य से भी ध्यान के जड़ हैं, जो जितना बना सके वह उतना ध्यान का पात्र है, ऐसे ये ज्ञानी विरक्त योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता कहे गए हैं ।

## श्लोक-364

विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशयाः ।

स्थिरेतरजगज्जन्तुकरुणावारिपार्द्धयः ॥३६४॥

**ज्ञानपवित्रित करुणापूरित योगियों की ध्यानपात्रता** – जिनका चित्त निर्मल ज्ञानरूप अमृत के पान से पवित्र है और जो स्थावर, त्रस, जगत के सभी जीवों के प्रति करुणारूपी जल के समुद्र हैं, अर्थात् जो ज्ञानामृत का निरन्तर पान किया करते हैं, मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसे ज्ञानमात्र निजतत्त्व की भावना बनाये रहते हैं और जो किसी भी जीव की हिंसा नहीं करते, सब जीवों के स्वरूप की आस्था रखते हैं अतएव सर्वजीवों के प्रति जिनका परम करुणाभाव उमड़ा है ऐसे योगीश्वर ध्यान की सिद्धि के पात्र होते हैं । कम से कम इतना तो निर्णय रखना ही चाहिए कि घर बनाकर, दुकान बनाकर, धन संचय करके, वैभव जोड़कर मुझे कुछ न मिल पायेगा । मेरे को लाभ तो उतना ही है जितना हमारे अपने स्वरूप का ज्ञान हो और उस स्वरूप में ही रमण किया जा सके । क्योंकि, आज यहाँ हैं तो यहाँ के इन चार जीवों से परिचय है, जीवों से क्या – इन मायारूप पर्यायों से परिचय है, और यह भव छोड़कर किसी दूसरी जगह जन्में तो वहाँ दूसरे ढंग की पर्यायों से प्राणियों से परिचय बन जायेगा । यह जीव मुफ्त ही यहाँ ठगाया गया, आगे ठगाया जायेगा, और ठगाये जाने का ही इसका अनादि से सिलसिला चला जा रहा है । इस भव में इन जीवों को ये मेरे हैं ऐसा माना, मरकर यदि गाय बन गए तो बछड़ों को मानेंगे कि ये मेरे हैं । कुत्ता, सूकर बन गए तो वहाँ उन बच्चों को मानेंगे कि यह मेरे हैं । यह जीव मोहवश ऐसी ही ठगोई में चला जा रहा है

। जितना अपने आपको ज्ञान और वैराग्य में बसा लें उतना तो आत्मा का हित है, शेष तो सब अहित है क्लेश है, भूल है, भ्रम है । जो योगीश्वर अपने निर्मल ज्ञानस्वभाव में चित्त बनाये रहते हैं, जो त्रस स्थावर सर्व जीवों की करुणा में बसे रहते हैं वे योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता होते हैं ।

## श्लोक-365

स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः ।

समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥३६५॥

**स्थिरचित्ता में ध्यान की पात्रता** –जो योगीश्वर मेरु पर्वत के समान अचल हैं, आकाश की तरह निर्मल है, वायु के समान निःसंग है, जिन्होंने निर्ममता को आश्रय दिया है ऐसे योगीश्वर ध्यान की सिद्धि के पात्र कहे गये हैं । जैसे मेरु पर्वत में प्रलयकाल की वायु भी चले तो वह नहीं टूटता है । ऐसी प्रचंड वायु जिसमें ये सब पहाड़ जमीन में लेट जायें, ध्वस्त हो जायें, पहाड़ की जगह जल हो जाय, ऐसी भी उथल पुथल मचा देने में समर्थ प्रलयकाल की प्रचंड वायु चले, लेकिन उससे क्या कभी मेरुपर्वत चलायमान हो जायेगा । इसी प्रकार के कितने ही परिषह आयें, राग उत्पन्न करने के साधन आयें, अथवा द्वेष उत्पन्न होने के साधन जुटें, समस्त स्थितियों में जो ज्ञानी संत, साधु पुरुष अचल रहते हैं । अपने स्वरूप से, श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं होते हैं । यों जो मेरु पर्वत जैसे कि अचल है उस तरह जो अपनी स्वरूप दृष्टि में अचल हैं वे पुरुष ध्यान सिद्धि के पात्र हैं । चित्त चल गया वहाँ ध्यान की सिद्धि नहीं होती । लौकिक ध्यानों को कोई करता है उसमें भी चित्त की स्थिरता की आवश्यकता है । और ऐसा सुन गया कि कभी कोई मंत्रसाधना करते हुए में डिग जाय, घबड़ा जाय या राग और तृष्णा की बात मन में समा जाय तो ध्यान सिद्धि तो दूर रही, बताते हैं कि वह पागल सा हो जाता है । चित्त की स्थिरता होना तो सब जगह श्रेयस्कर है । कितने ही लोग तो चित्त की अस्थिरता से बीमारी बुलाते हैं, बढ़ाते हैं और मरण भी कर जाते हैं । चित्त में बल हो तो बहुत सी विपदाओं से यह अलग रह सकता है । बल की ही तो बात है । जो गृहस्थ, जो प्राणी सुखी है वह एक इस मनोबल के कारण सुखी है । तो जिनका चित्त, उपयोग इतना निष्कम्प है जैसे कि मेरु पर्वत, ऐसे विशुद्ध ज्ञान वाले और अपने स्वरूप में दृढ़ता से लगन करने वाले ही योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता हैं ।

**निर्मल निःसंग योगियों की ध्यानपात्रता** –देखिये आकाश कितना निर्मल है । कभी आकाश में मैल भी लग सकता है क्या ? लोग कहते हैं कि आज तो आकाश धुंधला सा है, तो क्या आकाश कभी धुंधला होता है ? आकाश तो जो है सो है, अमूर्त है, उसमें मैल आता ही नहीं है । जो धुंधले हैं वे जल के कण हैं । उस रूप में फैल गए हैं या अन्य कुछ हैं । आकाश तो निर्लेप है, निर्मल है ।तो जैसे आकाश निर्मल है

इस ही प्रकार जिसका चित्त निर्मल है वह पुरुष प्रशंसनीय ध्याता है । जैसे वायु, उसके साथ कुछ लगा है क्या, उसमें कुछ लिपटा है क्या ? वह तो चलती है बहती है । वह निःसंग है, निष्परिग्रह है । इसी प्रकार जो योगीश्वर निःसंगता में बड़े चढ़े हैं, जिनके केवल एक अपने आत्मा के अन्तस्तत्त्व का ही लगाव है, समस्त पर परिग्रहों से विरक्त हैं ऐसे निःसंग ज्ञानी पुरुष ही ध्यानसिद्धि के पात्र हैं । सबसे मुख्य बात तो यह है कि जिनके चित्त में प्रमाद का परिणाम रहता है वे ध्यान सिद्धि के पात्र नहीं, किन्तु ममतारहित परिणाम रहे, केवल ज्ञानस्वरूप जाननहार मात्र रहे तो वहाँ ध्यान की सिद्धि होती है ।

### श्लोक-366

हितोपदेशपर्जन्यैर्भव्यसारङ्गतर्पकाः ।

निरपेक्षशरीरेऽपि सापेक्षाः सिद्धिसङ्गमे ॥३६६॥

जो मुनीश्वर हितोपदेशरूप मेघों से भव्य जीवरूपी चातकों को तृप्त करने वाले हैं और जो स्वयं शरीर में निरपेक्ष हैं किन्तु मुक्ति का संग पाने में सापेक्ष हैं, अर्थात् मुक्ति की अभिलाषा रखते हैं वे पुरुष ध्यानसिद्धि के पात्र हैं । जो अपने भीतरी वचनों से अपने आपको समझा सकता है उसी पुरुष में ऐसी भी योग्यता है कि उन्हीं वचनों को बाह्यरूप देकर अर्थात् वचनोपदेश करके दूसरों को भी समझा सकता है । तो जो हितोपदेश वचनों से खुद को और दूसरों को समझाने का यत्न करता है और ऐसे ज्ञानस्वभाव के जो रुचियाँ हैं, जिन्हें अपने शरीर में एक अपेक्षा नहीं रही, मुक्ति के संग के लिए जिनकी उत्सुकता जगी है वे ही पुरुष ध्यानसिद्धि के पात्र होते हैं ।

### श्लोक-367

इत्यादिपरमोदारपुण्यायचणलक्षिता ।

ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्रं मुनिमहेश्वराः ॥३६७॥

पुण्याचरण योगियों की ध्यानपात्रता –अनेक उदार पुण्याचरणों से युक्त जो मुनि महेश्वर हैं वे ध्यानसिद्धि के पात्र कहे गये हैं। जिन्हें शान्ति चाहिए, विश्राम चाहिए, ध्यान चाहिए उनका यह कर्तव्य है कि शुद्ध आचरणों से अपने जीवन बितायें । जिनका आचरण पवित्र नहीं है उनके ध्यान में स्थिरता नहीं हो सकती । ऐसे मुनि प्रधान योगीश्वर ध्यानसिद्धि के पात्र हैं । जो बात योगियों के लिए कही गई है वही बात

श्रावकों के लिए भी समझनी चाहिए । सुख दुःख आनन्द जीवन मरण ये सब जीवों को एक ही विधि से होते हैं । जैसी जिसमें कषाय है, जैसा जिसके आशय है वह अपने आशय और कषाय के अनुसार फल पाता है । हम अपना आशय निर्मल रखें, कषायों को ढीला करें, किसी कषाय में न बहें, उचित अनुचित का सब विवेक बनायें, इन शुद्धाचरणों से ध्यानसिद्धि की पात्रता रहती है । इस ही से मन स्थिर रह सकता है । इस प्रकरण में ध्याता योगीश्वरों की प्रशंसा करते हुए मैं अपने आपमें उन गुणों को प्रकट करने की भावना कही गई है ।

## श्लोक-368

तवारोढुं प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुन्नतम् ।

सोपानराजिकाऽमीषां पादच्छाया भविष्यति ॥३६८॥

संतों की पादच्छाया में उन्नति में सोपानरूपता –हे आत्मन् ! मुक्तिरूपी मंदिर पर चढ़ने की प्रवृत्ति करते हुए तुझे सही सोपान बताया गया है । ऐसे साधुसंतों के चरणों की छाया ही तेरे उन्नतिरूप महल में पहुंचाने की सीढ़ियाँ हैं । जिन्हें ध्यान की सिद्धि करना हो उन्हें ऐसे निर्दोष योगीश्वरों की, मुनियों की सेवा करनी चाहिए । ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों का रास्ता अलग-अलग है । अज्ञानी जनों को मोह ममता, विषय कषाय ये सब सूझते रहते हैं और ज्ञानीजनों को केवल निजचैतन्यस्वभाव ही सूझता रहता है, मैं तो यह हूँ । ज्ञानियों का पंथ जुदा है और अज्ञानियों का पंथ जुदा है । जिन्हें ज्ञान ध्यान की सिद्धि करना है उनका यही तो कर्तव्य है कि ज्ञानी ध्यानी महापुरुषों के संग में रहें । कितनी ही बातें सज्जन पुरुषों के संग में रहकर प्रेक्टिकल सीख ली जाती हैं जिन बातों को अनेक ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से और बहुत-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेने से भी वह बात नहीं बनती । तो सज्जन पुरुषों के संग की जो छाया है यह संसार संताप को बुझाने में समर्थ है, इस कारण जो ध्यान की सिद्धि चाहते हैं, कल्याण चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि ध्यानमार्ग में सफल हो रहे साधुजनों को सत्संग करें । अपने जीवन में कुछ अन्दाज तो लगावो कि मोही पुरुषों की संगति में हमारा कितना समय गुजरता है और ज्ञानी, साधु, व्रती संत पुरुषों के समागम में कितना समय गुजरता है । ज्ञानी संत पुरुषों के संग में अनेक बातें प्रयोगरूप से सीखली जाती हैं । अतः जिनको ध्यान की अभिलाषा है उनका कर्तव्य है कि संसार शरीर भोगों से विरक्त केवल ज्ञानस्वभाव के विकास के लिए ही सहज विश्राम करने वाले पुरुषों की संगति से ध्यान की सिद्धि का उपाय प्राप्त होता है ।

## श्लोक-369

ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।

इत्याद्यमलविख्यातगुणलीलावलम्बिनाम् ॥३६९॥

**अमलगुणलीलावलम्बी योगियों के ध्यान की सिद्धि** –सिद्धान्त में जैसा कि अभी उपरोक्त श्लोकों में कहा है ऐसे गुणों से विख्यात अथवा गुणों में प्रवृत्ति करने वाले मनुष्यों के ही ध्यान की सिद्धि मानी है । जैसे – विशेषण दिया था कि वे निष्परिग्रही हों, समस्त विद्याओं में विशारद हों, मंद कषायी हों, निर्मल हों आदिक गुणों करके युक्त मुनियों के ही ध्यान की सिद्धि होती है । ध्यान में ज्ञान और चारित्र दोनों का समन्वय है और सम्यग्दर्शन तो है ही । ध्यान नाम है एक और चित्त के रुक जाने का । उत्तम ध्यान में उपयोग आत्मा के सहज स्वभाव की ओर ठहर जाता है, तो ज्ञान बिना तो ध्यान होता ही नहीं है । और, उस ज्ञान क्रिया का जो ठहरना है वह चारित्र है । ध्यान किसकी पर्याय है, यह यदि पूछा जाय तो जिस दृष्टि से उत्तर दें उस दृष्टि से समाधान मिलता है । ध्यान ज्ञान का परिणमन है यों कह लीजिए अथवा चारित्र का परिणमन है यों कह लीजिए । फिर भी मुख्यता से ध्यान को चारित्र का परिणमन कहा है । जो ज्ञानी हैं, सदाचारी हैं, स्वरूपाचरण वाले हैं ऐसे साधु संतों के ध्यान की सिद्धि कही गयी है ।

## श्लोक-370

निष्पन्दीकृतचित्तचण्डबिहगाः पञ्चाक्षकक्षान्तकाः,

ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधेपारगाः ।

लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः कारुण्यपुण्याशया,

योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलता कुर्वन्तिते निर्वृतिम्॥३७०॥

**योगीन्द्रों से निज के आशीष की वाञ्छा** –ऐसे गुणवान योगीन्द्र हमारे और भव्य पुरुषों के आनन्दरूपी मोक्ष को करें । कैसे हैं वे योगीन्द्र जिनके प्रति ध्यान करके एक मोक्ष सुख की प्रार्थना की गयी है । जिन्होंने चित्तरूपी पक्षी को वश किया है, अचलित किया है ऐसे निश्चल हैं । इस मन को पक्षी की उपमा दी है । जैसे पक्षी किसी एक जगह शान्त होकर नहीं बैठ पाता, इधर उधर फुदकता अथवा पंख हिलाता रहता है,

अभी कहीं बैठा है, थोड़ी ही देर में कहीं पहुंच जाता है। यों पक्षी को चंचल बताया है। तो जैसे पक्षी चंचल है ऐसे ही यह मन राग और द्वेष के कारण चंचल रहा करता है। ऐसे चित्त को जिन्होंने निश्चल किया है वे योगीन्द्र हमारे और भव्य जीवों के मोक्षरूप आनन्द को करें। यद्यपि इस प्रार्थना करने वाले गुणाभिलाषी पुरुष की यह पूर्ण श्रद्धा है, कोई भी जीव किसी अन्य जीव के सुख दुःख संसार मोक्ष किसी भी परिणमन का कर्ता नहीं होता। लेकिन एक निमित्त दृष्टि से अथवा भक्ति के प्रसंग में यह कथन युक्त जँचता है कि जिस प्रभु के गुणों के स्मरण के माध्यम से हम तत्त्वचिन्तन करके एक अपने में विविक्तता का अनुभव करते हैं और जिसके प्रसाद से मुक्ति निकट होती है तो उस प्रभु की भक्ति में यह कहना ठीक है कि वह हमें आनन्द प्रदान करे, मुक्ति प्रदान करे। यह सब भक्ति का स्तवन है। क्या कोई इस तरह भी स्तवन करेगा किसी के सामने कि हे प्रभो ! तुम हमारा कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो, तुम भिन्न हो, परद्रव्यहो ? ये कोई स्तवन के वचन हैं क्या ? यद्यपि बात ऐसी ही है कि प्रभु हमारा कुछ नहीं करते, पर इस तरह से कहना कोई गुणानुराग की बात नहीं है। गुणानुराग में आभार प्रकट किया ही जाता है।

**योगीन्द्रों की उत्कृष्ट विषयनिवृत्तता**—ये योगीन्द्र पञ्चेन्द्रिय रूप बनके दग्ध करने वाले हैं अर्थात् इन्द्रिय के विषय को जीतने वाले हैं। आत्मबल का प्रयोग विषयों के जीतने से होता है। जो जितना इन्द्रियविजयी है उसे उतना ही आत्मबली समझना चाहिए। ये योगीन्द्र ध्यान से समस्त पापों का नाश करने वाले हैं। पाप तब उत्पन्न होते हैं जब कोई दुर्ध्यान हो। खोटे विषयों में चित्त लगता हो तो पाप उत्पन्न होते हैं किन्तु जहाँ निष्पाप, निष्कर्म शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का ध्यान बन रहा हो ऐसे उत्तम ध्यान में पापों का बन्ध नहीं है और पूर्वबद्ध पापकर्मों का विनाश होता है। यों ध्यान से जो पापों का नाश करने वाले हैं वे योगीन्द्र हमारे और अन्य भव्य जीवों के मोक्षसुख के प्रदान करने वाले हों।

**योगीन्द्रों की विद्याम्बुधिपारगता**—ये योगीन्द्र विद्यारूपी समुद्र के पारगामी हैं अर्थात् सर्वप्रकार की विद्याओं के अधिपति हैं। जो सभी प्रकार की विद्याओं के अधिपति होते हैं, अनेक कलाओं में कुशल होते हैं ऐसे पुरुषों में ध्यान की समुचित योग्यता होती है। जैसे लोक में भी देखा जाता है कि जिनकी बुद्धि हर दिशा में चलती है उनका धर्म में भी बहुत विधिपूर्वक गमन होता है। तो कोई राजा थे, कोई मंत्री थे, कोई विद्वान् थे, ऐसे ही लोग विरक्त होकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर हुए हैं और उन्होंने उन कला कुशलताओं का प्रयोग अब आत्मध्यान के लिए किया है तो ऐसे कुशल पुरुषों के आत्मध्यान होना बहुत सुगम सिद्ध है। ऐसे योगीन्द्र जो समस्त विद्याओं के अधिपति हैं हमारे और भव्य प्राणियों के सुखरूप मुक्ति को करो।

**योगीन्द्रों की कर्मध्वंसकुशलता**—वे योगीन्द्र जरा सी लीला मात्र में कर्मों की जड़ को उखाड़ने में समर्थ हैं। जिनकी जिस विषय में गति होती है वे उस विषय को लीला मात्र में सिद्ध कर लेते हैं। जैसे जो लिखने में बड़े चतुर होते हैं वे थोड़े से ही श्रम से जैसा चाहे बैठे हुए भी लिखने में समर्थ हो जाते हैं और जो कुशल नहीं हैं वे बड़ा उपयोग लगायेंगे, बहुत हाथ को सम्हालेंगे, बड़े श्रम से लिख सकेंगे। जो किसी खेल में निपुण हैं वे दौड़ते हुए, चलते हुए, झुकते हुए, अनेक स्थितियों में उस क्रीड़ा में विजय

प्राप्त कर लेते हैं। तो जिन महापुरुषों ने अपनी आत्मा के सहजस्वरूप का अनेकों बार अवलोकन किया और इस अवलोकन में वे दृढ़ता से समर्थ हुए ऐसे पुरुष क्रीड़ा मात्र में अर्थात् जरा से ही अभ्यास से समस्त कर्मों के मूल को उखाड़ फेंकते हैं। उपयोग की ही तो बात है। उपयोग जहाँ निष्कलंक अन्तस्तत्त्व की ओर लगा वहाँ समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। तो ये योगीन्द्र जो अपने ज्ञान की लीला से कर्मों को मूल से उखाड़ने में समर्थ हैं वे हम सबको मोक्षसुख प्रदान करें।

**कारुण्यपवित्रित योगियों की उपासना** –इन योगीन्द्रों में अपार करुणा होती है। और, उनकी करुणा अकारण होती है, बिना स्वार्थ के होती है। करुणा भी कैसी अपूर्व है कि संसार के संकटों से छुटाने का यह सुगम उपाय है। इस उपाय को बहुत जल्दी समझ लें और उस उपाय पर चलने लगें ऐसी उनके आन्तरिक भावना होती है, और यह भी बिना किसी खुदगर्जी के। लोक में बन्धु और मित्र बहुत होते हैं पर वे किसी न किसी खुदगर्जी को लेकर होते हैं। ये ज्ञानी संत जिन्हें संसार और मुक्ति का सब रहस्य विदित हो गया है वे बिना ही खुदगर्जी के संसार के समस्त जीवों का भला चाहने वाले होते हैं। तो जो सत्य करुणा भावरूप पुण्य से पवित्र मन वाले हैं वे योगीन्द्र हमें और भव्य जीवों को मुक्तिसुख प्रदान करें। ये योगीन्द्र संसाररूप भयानक दैत्य को चूर्ण कर जाने वाले हैं अर्थात् संसरण परिणाम और द्रव्य संसरण ये सब जिनके समाप्त हो जाने वाले हैं वे योगीन्द्र हम सबका कल्याण करें। जो स्वयं कल्याण पथ पर लगे हैं वे ही दूसरों के कल्याण के निमित्त बन सकते हैं।

**राग की विकट शत्रुरूपता**– जगत में बहुत से मित्र बन्धु हैं, मोहीजन हैं, वे कल्याण के मार्ग तो क्या अकल्याण के निमित्त बन जाते हैं। जिन्हें लोग मानते हैं कि ये मेरे खास बन्धु हैं, मित्र हैं उनका राग करके उनसे मोह करके यह जीव संसार की कुगतियों को प्राप्त करता है। जिन्हें लोग गैर मानते हैं वे गैर भले हैं जिनके कारण हमें कोई विपदा नहीं आती। विपदा केवल द्वेष से द्वेष की नहीं होती, किन्तु राग भी महाविपदा है। कभी किसी को कोई कषाय जगे, क्रोध उत्पन्न हो तो लोग उसका और-और प्रकार से बिगाड़ करना चाहते हैं, उसे धन हानि करके या उसकी किसी उन्नति में हानि करके उसका बिगाड़ करना चाहते हैं, लेकिन सबसे अधिक बिगाड़ करने का तरीका तो यह नहीं है। यह तरीका है कि उसे कुछ विषय – साधन जुटा दिये जायें ताकि वह भव-भव में संकट सहता रहे। यह उपाय उसे दुःखी करने का उसके द्वेष के साधन मिलाने से अधिक दुर्विपाक है। कोई घर का पड़ोसी गरीब हो लेकिन जो कुछ भी दो रुपया कमा पाता है, दो एक प्राणी हैं, सारा का सारा खर्च करके खूब आराम से अपने दिन गुजारता है। कोई पड़ोसी हो उसका धनी और सेठानी उससे रोज लड़े कि तुम तो इतने बड़े सेठ हो फिर भी साधारण ही भोजन बनवाकर खाते हो, देखो यह पड़ोसी जो गरीब है, २) ही रोज कमाता है वह कितना अच्छा खाता है और कितना ठाठ से रहता है। सेठ को उस पड़ोसी के प्रवर्तन के कारण कष्ट होगा और उसका वह बदला चुकाना चाहेगा, उसे मिटा दें, भगा दें, क्योंकि इसके कारण सेठानी हमसे रोज लड़ती है। यदि सेठ हो होशियार तो उसे भगाने की तथा मिटाने की अपेक्षा यह करेगा कि उसे ९९ के चक्कर में डाल देगा। वह तृष्णा में आकर खुद बर्बाद हो जायगा। कभी रात को ९९ रु. की थैली उसके घर के आँगन में फेंक दे, ९९ रु. पाकर वह तो यह सोचेगा कि १) कम है, नहीं तो मैं शतपति

कहलाता । ठीक है, कल १) बचा लेंगे और १) ही खर्च करेंगे । पर जब १००) हो गए तो हजार की तृष्णा हो गई । यों चवन्नी रोज में ही गुजारा करने लगा । अब तो सारा जीवन ही दुःखमय हो गया । तो लोग समझते हैं कि द्वेष और विरोध यह बड़ी विपदा है, पर इससे भी बड़ी विपदा राग और मोह है । अपने लिए वे गैर भले हैं जिनके कारण हमें नरक निगोद जैसी यातनाओं के पाप तो नहीं बनते, पर जिनमें तीव्र मोह है वे तो हमारी कुगति के कारण बनते हैं । पर कैसी बुद्धि है संसारी जीवों की कि यह बात चित्त से नहीं जाती कि ये मेरे हैं, इन स्त्री, पुत्रादिक के लिए ही मेरे तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर हैं और बाकी लोगों के लिए एक पैसा भी खर्च हो तो उसे समझ लेते कि यह मुफ्त गया, इतना तीव्र तृष्णा रंग चढ़ा हुआ है कुबुद्धि का । जो ही विपदा के कारण है उन ही में हम अधिक राग किया करते हैं ।

**स्वरूपपरिचय बिना धर्मभाव की अनुद्भूति** –हम भगवान की पूजा करें, दर्शन करें, सब कुछ करें और इन बातों में अन्तर न डालें तो वह प्रभु की भक्ति क्या हुई ? हम प्रभु को भक्ति, पूजन, वन्दन सब कुछ करें और परिजन से तथा अन्य पर पदार्थों से मोह न छूटे तो क्या यह कोईभली बात है ? मोह नहीं छूटा इसका चिन्ह यही है कि आप अपना सब कुछ सर्वस्व तन, मन, धन, वचन उनके ही लिए न्योछावर करने को तत्पर रहते हैं । यों तो जब कोई धर्म के भेष में आता है, पूजन स्तवन आदिक में आता है अथवा चर्चा में बैठता है, स्वाध्याय करता है अथवा दूसरों को सुनाता है तो वहाँ तो बातें लम्बी चौड़ी झोंकनी ही पड़ती हैं, उसका ही तो नाम आजकल का धर्म है । और, अब स्वाध्याय करने बैठे तो क्या यह बोलना चाहिए कि मोह करने से जीव को सुख होता है ? वहाँ तो यही बोला जाता है कि ऐ जगत के मोही प्राणियों ! तुम मोह से अपनी बरबादी कर रहे हो । हम क्या हैं इस पर कुछ दृष्टि नहीं है । वहाँ तो गप्पें झोंकी जायेंगी । प्रभु की भक्ति वन्दना बड़े गान तान से करेंगे, बोलेंगे सही सही, पर मोह जरा भी शिथिल न हो, चित्त में थोड़ी भी यह बात न समाये कि आखिर जल्दी ही एक दिन सब छूट जायेंगे, तो इनके पीछे माथा रगड़ने से क्या हित होगा । ऐसे दुर्लभ नर जीवन में कुछ निर्मलता की स्थिति क्यों न बना लें । समझ लो कि हम १०५ साल पहिले ही मर गए थे । वर्तमान जीवन में स्वहित की बात अगर चित्त में न आयें तो ऐसे जीने से क्या लाभ ? यदि ऐसी बातें चित्त में समाती हैं तो यह भी एक निर्मोहता की निशानी है । तो जो योगीन्द्र निर्मोह हैं और निर्मोहता के कारण संसाररूप भयानक दैत्य को चूर्ण कर देते हैं ऐसे योगीन्द्रों का हमारा गुणस्मरण रहें ।

## श्लोक-371

विन्ध्याद्रिनंगरं गुहा वसतिका शय्या शिला पार्वती ।

दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गा ॥

विज्ञानं सलिलं तथा सदृशनं येषां प्रशान्तात्मनाम् ।  
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः ॥३७१॥

**साधुओं का नगर** –जिन साधु मुनि महाराजों का नगर क्या है – विन्ध्याचल आदिक पर्वत । जैसे गृहस्थों से पूछा जाय कि आपका नगर कौन-सा है तो उत्तर देंगे-मेरठ, मुजफ्फरनगर, हापुड़ इत्यादि तो उन महाराजों का, मुनीश्वरों का कोई पूछे कि नगर कौन है, तो भक्त लोग यही उत्तर देंगे कि उनका नगर है वन उपवन इत्यादि । जहाँ ठहरकर, विचर कर निःशङ्क रहा जाता है उसे नगर कहते हैं । लोकव्यवहार में अज्ञानी रागीजनों का विश्राम नगर यहाँ के नगर आदि हैं । यहाँ भी व्यवहार से यह कहा जा रहा है कि विरक्त ज्ञानी साधु संत पुरुषों का विश्रामस्थान वन उपवन आदि हैं, ये ही साधुओं के नगर हैं । ऐसा एकान्त भयावह स्थानों पर निवास करना भी साधारणजनों से शक्य नहीं है सो यह वन निवास आदि भी उत्तमजनों द्वारा किये जा सकते हैं । लेकिन अन्तः तो देखिये साधुजनों का नगर क्या है ? उनका अपना आत्मक्षेत्र, आत्मस्वरूप ही उनका नगर है, जहाँ उनका परमार्थतः निवास रहता है । इस परमार्थ नगर में निवास करने वाले ज्ञानी साधु संत परमार्थ आनन्द का अनुभव करते हैं और इसी आनन्दानुभव के कारण वन निवास उन्हें सुखद प्रतीत होता है ।

**साधुवों का गृह** –साधुवों का घर क्या है, कितनी मंजिल का है ? अरे पर्वतों की गुफायें ही उनके घर हैं जो प्रकृत्या बनी हुई हैं । कहीं पोल सा है ऐसा कोई स्थान है तो वह ही उन मुनियों का घर है । जहाँ ठहर कर विश्राम किया जाता है, वह घर कहलाता है । गृहस्थों को तो झरोखे वाले एयरकन्डीशन वाले, महलों में विश्राम मिलना प्रतीत होता है, किन्तु साधुजनों को अपने आत्मस्वरूप में विश्राम मिलता है, यह आत्मस्वरूप रमण विविक्त स्थानों में सुगमतया होता है और संसार से प्रयोजन न रखने वाले संतजनों का प्रकृत्या निर्जन गुफादिक एकान्तस्थानों में निवास होता है, सो उन्हें ऐसे विविक्त स्थानों में ही विश्राम मिलता है । जहाँ रहकर विश्राम मिले, निःशंकता रहे, निर्बाधता रहे वही उसका घर है । साधु संतों का घर पर्वतों की गुफायें आदिक स्थान हैं ।

**साधुवों की शय्या** –साधुवों की शय्या क्या है, वे सोते किस पर हैं ? आखिर सभी लोग जानते हैं कि दिन भर श्रम करने के बाद कुछ कोमल गद्दा आदिक तो होना ही चाहिए तब तो हम सोयें । तो मुनियों की शय्या क्या है ? बताया है कि जो पर्वतों की शिलायें हैं वे ही शय्या हैं । लोग जब कुछ विषयसाधन वैभव के समागम में रहते हैं तो काल्पनिक मौज मानते हुए कोमल शय्यापर शयन कर आराम का प्रतिकल्पन करते हैं, किन्तु सत्य आराम तो निर्विकल्प ज्ञानोपयोग में होता है । जो लोग आराम के लिए परपदार्थों का आश्रय लेते हैं और चूँकि मायामय पर का आश्रय लिया है उन्होंने सो उन्हें यथार्थ आराम हो ही नहीं सकता । साधुवों ने स्वब्रह्म का ही आलम्बन लिया है सो उन्हें सत्य आराम प्राप्त होता है । ऐसे साधुजन शारीरिक श्रम के खेद को दूर करने के लिये आयासप्राप्य शय्या की चाह नहीं करते, उनकी शय्या तो पर्वतीय शिला है ।

**साधुक्षेत्र दीपक** –उनके पास कुछ बिजली दिया वगैरह भी रहता होगा ? कहते हैं कि हाँ रहता है । जो चन्द्रमा का प्रकाश है, नक्षत्रों का उजाला है, वह चाहे उन गुफाओं के अन्दर पहुँचे अथवा न पहुँचे, ऊपर ही दृष्टिगत रहे, वही उनकी दीपक है । ये तो बड़ी विलक्षण बातें कही जा रही हैं, जो गृहवासी के लिये कठिन हैं । दीपक या किसी प्रकार का पौद्गलिक प्रकाश न होने पर गृहस्थ घबड़ा जाते हैं, किन्तु तत्त्ववेत्ता साधुजन निज अन्तःप्रकाश में ही प्रसन्न रहा करते हैं । ऐसे साधुजन बाह्य दीपकारित के लिये क्या श्रम करेंगे, वे तो इस आरम्भ से दूर हैं, तब साधुओं के निवासस्थल पर जो प्रकृति की दैन है वही उस स्थल पर बाह्य प्रकाश है । मुनिजन निर्जन पर्वत, बन, गुफा आदि एकान्त स्थानों में रहते हैं अतः उनके लिये चन्द्रकिरण आदि ही बाह्य में दीपक हैं ।

**साधुओं के क्षेत्र में सहचर** –आखिर उन ध्याता योगीश्वरों के कोई दोस्त तो होंगे, सहचर तो होंगे, उनके साथ रहने वाला और कोई भी तो होगा ? कहते हैं – अरे हिरण हैं, खरगोश हैं, और और भी अनेक प्रकार के जानवर हैं जो उनके पास आते जाते रहते हैं, वे बड़े निःशंक रहा करते हैं, वे उनके सहचर हैं । आत्मसाधना की धुन में आत्मसाधना के विराधक के निमित्त परिजन का परित्यागकर एकान्त वन में विचरने वाले, ध्यान करने वाले योगीश्वरों के निकट योगीश्वरों की शान्त मुद्रा से आकर्षित अनेक बनचर जीव ठहरकर अहिंसा की प्रतिष्ठा को बढ़ाते हैं । उस वातावरण में योगीश्वर कितने समृद्ध कहे जाँय, यह आप अपनी बुद्धि से निश्चय कर लीजिये । इन ध्याता योगीश्वरों के सहचर ये हिरण आदिक हैं । देखिये कैसी निरालम्बता इन ध्याता योगीश्वरों की है ।

**साधुओं की परमार्थ रमणी** –साधुओं के कुछ घर बार तो होगा, रमणी तो होगा ? कहते हैं कि हाँ उनके रमणी भी हैं जो सदा उनके साथ रहा करती है । सर्वप्राणियों की परमार्थभूत दया ही उनकी रमणी है । जो मन को रमा दे उसे रमणी कहते हैं । गृहवासियों का मन स्त्री से रमता है, किन्तु तत्त्ववेत्ता ज्ञानी संत जनों का मन स्वपर दया में रमता है । भ्रमरहित, कषायरहित अपने उपयोग को प्रवर्ताने में साधुओं का मन रमता है और ऐसे ही सर्वप्राणियों को निःसंकट देखने के लिये उनके उद्धार की जो परमकरुणा होती है उसकी चेष्टा में मन रमता है । इसी शुद्ध भावना में रमण करके साधुजन निर्जन बन गुफादिक स्थानों में रहकर प्रसन्न रहा करते हैं । साधुओं की रमणी स्वपरदया है ।

**साधुओं का ज्ञानपात्र** –किसी के भी घर में देखो तो पानी पीने के लिए अनेक बर्तन होते हैं घड़ा अथवा सुराही वगैरह । तो उन मुनि महाराजों के पास पीने का पानी तो होगा ? कहते हैं – हाँ है, विज्ञान ज्ञान ही उनका पीने का पानी है । जैसे जब आप विश्राम से बैठे हों, शुद्ध ध्यान हो तो अपने आप ही गले से पानी उतर आता है । यह आपको विशुद्ध आनन्द की सूचना देता है ना । इससे भी अधिक विश्राम व शान्ति में बसने वाले साधुजन वस्तुस्वातंत्र्य के उपयोग से विकल्मष ज्ञानजयोति का अनुभव करते हैं, उन्हें शुद्धज्ञानसुधारसपान में अनुपम तृप्ति उत्पन्न होती है । इस ज्ञानसुधारसपान से ज्ञानी संत ग्रीष्मकाल की कठिन तपस्या के बीच में भी तृप्त और प्रसन्न रहा करते हैं ।

**बेपढ़ा है साधुओं का परमार्थ भोजन** –साधुओं का उनका भोजन क्या है ? कहते हैं कि ज्ञान विज्ञान जल

से सने हुए ध्यान, तप, व्रत, नियम आदि कर्तव्यों का पालन उनका भोजन है। जिससे बुभुक्षा शान्त हो उसे लोग भोजन कहा करते हैं। बुभुक्षा नाम पदार्थों के भोगने की इच्छा का है। ज्ञानपूर्वक ध्यान तप व्रत नियम के आचरण से साधु संतों का समय विशुद्ध विश्राम में व्यतीत हो जाता है, उनके पदार्थों के भोगने की इच्छा शान्त हो जाती है। साधु संतों का यह भोजन अनुपम है। इस भोगने को ही वे बनाते हैं, अपने ही अभिन्न साधन से बनता है और वे ही स्वयं खाते हैं और ऐसा ही खाते रहते हैं इस कारण यह भी कहना युक्त है कि खाते हुए अघाते भी नहीं है अथवा इस भोजन से वे पूर्ण तृप्त रहते हैं। ऐसे मुनिराज का जिनका अनूठा परिवार है वे संसारूपी कीचड़ से निकलने का हम सब लोगों को मार्ग बतायें, उपदेश करते रहें, ऐसा ध्यानी योगीश्वरों की प्रशंसा में उनका गुणगान किया गया है। योगीश्वर समस्त प्राणियों के निरपेक्ष बन्धु हैं, अतः समस्त जगत को उनका परिवार कहा जा सकता है। उनके उपदेश से अनेकों भव्य जीव अज्ञानान्धकार को दूर करके ज्ञानप्रकाश को पाकरके शान्तिपथ विहार करके उत्कृष्ट शान्तिपद को प्राप्त करते हैं। योगीश्वरों का जितना आभार माना जाय वह सब थोड़ा है। ऐसे योगीश्वरों को मन वचन काय से मेरा प्रणाम हो।

## श्लोक-372

रुद्धे प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते संवृतेऽक्षप्रपञ्चे ।  
 नेत्रस्पन्दे निरस्ते प्रलयमुपगतेऽन्तर्विकल्पेन्द्रजाले ॥  
 भिन्न मोहान्धकारे प्रसरति महसि क्वापि विश्वप्रदीपे ।  
 धन्योः ध्यानवलम्बी कलयति परमानन्दसिन्धुप्रवेशम् ॥३७२॥

श्वास, काय, इन्द्रिय, नेत्र के संवरपूर्वक ज्ञानबल से आत्मप्रकाश का विकास –जो पुरुष ध्यान की अनेक साधना करके निज तेजपुञ्ज को अपने हृदय में धारण करते हैं वे ही पुरुष प्रशस्त ध्याता हैं। ध्यान की क्रिया में सर्वप्रथम श्वासोच्छ्वास के रोकने की क्रिया की जाती है। जो पुरुष ध्यानसाधना में अपनी वृत्ति बनाना चाहते हैं वे प्राणायाम का अभ्यास करते हैं जिस प्राणायाम का वर्णन इसी ग्रन्थ में किसी प्रकरण में आयगा। तो प्रथम तो श्वासोच्छ्वास के निरोध की क्रिया, दूसरे – शरीर को निश्चल रखने की क्रिया। शरीर हिले डुले नहीं, स्थिर आसन से और सुगम सीधा अपनी काय रखकर शरीर को निश्चल करें, दूसरी बात इन्द्रिय के प्रचार का सम्बरण करें। इन इन्द्रियों से देखने का सुनने का किसी भी प्रकार का ख्याल न लायें, न इन्द्रिय की प्रवृत्ति को रखें, जिसमें नेत्रों का स्पन्द रुक जाय। नेत्र भी चलनक्रिया से रहित हो जायें, फिर मन को भी रोके अर्थात् विकल्पजाल, इन्द्रजाल का प्रलय हो जाय, कोई विकल्प चित्त में न आने दें, ऐसी स्थिति में मोहान्धकार दूर होता है, और जब जो साधु स्वपर प्रकाशक इस

तेजपुञ्ज को हृदय में धारण करता है, वह मुनि ध्यानावस्थी होता है । और यह मुनि आत्मध्यान समुद्र में प्रवेश करता है, उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव करता है ।

**आत्मध्यान की शरणरूपता** –हम आप सबके लिए एक आत्मध्यान ही शरण है, जिसके प्रताप से संकल्प विकल्प दूर हो जायें और केवलज्ञान में ज्ञान का अनुभव रहे उसकी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है । हम सबका ऐसा आत्मध्यान ही वास्तविक शरण है । व्यर्थ का मोह जाल, जिसमें कुछ मिलने की आशा भी नहीं है । अच्छा बतावो अपने आपकी दृष्टि से अपने सारे ढंग हैं, ऐसे मोह जाल से हित नहीं है । अच्छा बतावो अपने आपकी दृष्टि से अपने आत्मापर दया करके सोचिये कि जो कुछ राग मोह का प्रवर्तन किया जा रहा, कुछ ही लोगों को अपना सब कुछ समझकर उनका ही राग, उनकी ही व्यवस्था में जो विकल्पजाल किया जा रहा इसके फल में आत्मा की आबादी क्या होगी, कौन सा लाभ होगा, क्या शान्ति मिलेगी, समृद्धि होगी, अनाकुलता जगेगी, कर्मों की निर्जरा होगी ? कुछ भी तो नजर न आयेगा । बरबादी की दृष्टि से देखो तो संसार में ही रुलेगा । यह बरबादी तो स्पष्ट ही है । अपने ज्ञान का आवरण रहेगा, कुयोनियों में जन्म होगा । और फिर जिनको अपना इष्ट जान कर इतना राग रंग में तृष्णा में धसे-फसे हुए हैं ये कोई जीव साथ नहीं निभा सकते । क्यों निभायेंगे । तो इन सब परकीय ध्यानों में, लगावों में हित कुछ नहीं है । हित तो एक अपने आत्मा के विचारों में, ध्यान में, अपने आपको विशुद्ध आचरण में रखने में है । इस जीव का कोई दूसरा साथी नहीं है । अपने आपका सही श्रद्धान हो और विशुद्ध आचरण हो । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा, मूर्छा इन पापों से अपने को निवृत्त रखें । गृहस्थ हैं तो गृहस्थ धर्म में जो योग्य आचरण बताया उसे निभायें, साधु है कोई तो साधु धर्म में जो निवृत्ति बताया उसे निभायें, इसमें ही हित है । अपने आपको पाप परिणाम में रखने से आत्मा में कुछ समृद्धि नहीं जगती, न आत्मबल बढ़ता । जिनको भी ऋद्धि और सिद्धि उत्पन्न हुई है उन्हें शुद्ध आचरण के प्रताप से हुई है । आचरण जिनका भ्रष्ट है उनको कोई ऋद्धि सिद्धि समृद्धि सन्तोष ये कुछ भी प्राप्त नहीं होते । सो ध्यान की समस्त क्रियाओं को करते हुए जो अपने इस धर्ममूर्ति भगवान आत्मा का ध्यान रखते हैं वे उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव करते हैं ।

### श्लोक-373

अहेयोपादेयं त्रिभुवनमपीदं न्यवसितः ।

शुभं वा पापं वा द्वयमपि दहन कर्म महसा ॥

निजानन्दस्वादव्यधिविधुरीभूतविषयः ।

प्रतीत्यौच्चैः कश्चिद्विगलितविकल्पः विहरति ॥३७३॥

**ज्ञानियों का ज्ञानविकार** –जो पुरुष आत्मध्यान में स्थित होते हैं, जिनके ध्यान की प्रगति हुई है उनके ध्यान में तो निश्चलता है ही । ध्यान में अभ्यस्त साधु संत विहार करते हुए भी निश्चल के समान रहते हैं वे शुभ और अशुभ समस्त कर्मों को जलाते हुए इस त्रिभुवन में जो न हेय है न उपादेय है, उस विशुद्ध तत्त्व में निर्विकल्परूप से भ्रमण करते हैं, अथवा यों समझिये कि आत्मा का विहार है ज्ञान के द्वारा । ध्यान में अभ्यस्त पुरुष अपने इस ज्ञान के द्वारा तीनों लोक में एक साथ सर्वत्र विहार कर रहे है अर्थात् सबको जानते हैं । और व्यवहार में कभी भी जाये आये रहें । जिसकी जो लगन उसको वही रुचता है, उसका ही ध्यान रहता है । एक बात यह भर मालूम पड़ जाय, दृढ़ता से निर्णय में आ जाय कि अपने आपके प्रभु से लगाव लगाये रहने में तो सब कुछ मिल सकेगा – शान्ति, मुक्ति, निराकुलता । उद्धार हो जायगा, और एक इस अंतस्तत्त्व प्रभु को धोखा दिया जाय अर्थात् किसी असदाचार में, दुराचार में लगाया जाय, श्रद्धान बिगाड़ लिया जाय तो उसमें किसी भी प्रकार की सिद्धि नहीं हो सकती । अतएव जिन्हें शान्ति चाहिए, सम्पन्नता चाहिए, प्रसन्नता चाहिए उनका कर्तव्य है कि अपने आपको आत्मा के विरुद्ध आचरणों से दूर रखें । शुद्ध आचरण में अपना जीवन बितायें । जिन्होंने आत्मीय आनन्द के प्रताप से शुद्ध स्वभाविक परमआल्हादरूप आनन्द के अनुभव से इन्द्रियविषयों को दूर कर दिया है ऐसे पुरुष निष्कषाय, निर्विकल्प, क्लेशरहित विशुद्ध ज्ञायकस्वभाव अपने आत्मप्रभु के ध्यान में लगते हैं और कर्मों की निर्जरा करते हुए यथेष्ट विहार करते हैं ।

**स्वरूपाचरण से संकटपारगता** –रागद्वेष मोह से, पापविषयों की प्रवृत्ति से इस जीव का अहित ही है । जो शुद्ध ज्ञानी भव्य पुरुष होते हैं वे किसी भी परिस्थिति में अन्याय करना पसंद नहीं करते । अन्याय करके, धोका देकर यदि कुछ सांसारिक लाभ भी मिला तो क्या उसे निस्तारा होगा । यद्यपि अन्याय और धोखा से सांसारिक लाभ भी नहीं मिलते लेकिन ऐसा काकतालीय न्याय मिल जाय कि पुण्य का उदय भी आने वाला हो और उसी समय कोई इसके कुबुद्धि जग जाय तो जितना आने को है उससे बहुत कम आता रहेगा लेकिन यही जीव उसी कम आने को अपनी चतुराई से आया है ऐसा मान ले तो यह उसके अज्ञान की बात है । भ्रष्टाचार से आत्मा को लाभ कुछ नहीं है, और मान लो दुनियावी लाभ मिल भी गया तो आत्मा का पतन कितना कर लिया । किसी पुरुष का धन नष्ट हो जाय तो यह कहना चाहिए कि मेरा कुछ नहीं गया है । बाहरी चीजें थीं, विकल्पों से अपना माना था, अब नहीं रहा । किसी का स्वास्थ्य बिगड़ जाय, कोई राजरोग जग जाय तो कहना चाहिए कि इसका कुछ कुछ गया । और, कोई पापमें लग जाय, आचार से भ्रष्ट हो जाय तो कहना चाहिए कि इसका सब कुछ गया । जिन महापुरुषों के हम आज भी गुण गाते हैं उन्होंने क्या किया ? प्रत्येक परिस्थितियों में चाहे उन पर कुछ बीती हो, अपने धर्म को अपने विशुद्ध आचरण को नहीं छोड़ा । इस ही दृढ़ता के प्रसाद से वे महापुरुष हुए और उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया । तो यह सही निर्णय बनाएँ कि अपने को संसार के संकटों से छूटकर निराकुल अवस्था का अनुभव कर लेने का काम पड़ा है । जिन्होंने आत्मीय स्वभाविक आनन्द प्रकट किया है

अतएव इन्द्रियविषय जिनके दूर हो गए हैं, जिन्होंने अपने तेज से पुण्य पाप सभी कर्मों को जला दिया है, तो जला रहे हैं और अपने आपके शुद्धस्वभाव का विश्वास करके जो सब कुछ जान रहे हैं वे निर्विकल्प रहकर रथेष्ट विहार करते हैं ।

**स्वच्छ उपयोग में ध्यान की पात्रता** –ध्यान की पात्रता उनके है जो अपने हृदय को स्वच्छ बना सकें । स्वच्छ बनाने की बात यह है कि प्रथम तो यथार्थज्ञान होना चाहिए यथार्थ ज्ञान उसे कहते हैं । भाव में रत रहा करते हैं जिस ज्ञान में ये समस्त पदार्थ स्वयं अपने आपके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रत रहा करते हैं । प्रत्येक पदार्थ परस्पर एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है । तीनकाल में भी किसी पदार्थ का किसी पदार्थ में न द्रव्य, न गुण, न पर्याय कुछ भी नहीं जाता है । यों समस्त पदार्थों को स्वतन्त्र निहारने से हृदय में एक स्वच्छता हैजगती, क्योंकि अज्ञान मिटा, मोह दूर हुआ । इसके पश्चात् क्रोध, मान, माया, लोभ पञ्चेन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्ति आदि सबसे अपने को दूर करने का यत्न किया । जिसे मुक्ति रुच गई है, जिसके चित्त में यह समा गया है कि मेरे को तो मुक्तिपथपर चलने का काम पड़ा है । तो वे कर्मों को काटकर शिवमार्ग का लाभ लेने के लिए उद्यत होते हैं । यह बात चित्त में समाये तो हम संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर आत्मोद्धार के काम में सफल हो सकते हैं ।

### श्लोक-374

दुःप्रज्ञा बललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशयाः,  
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ।  
आनन्दामृतसिन्धुसीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरन्,  
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥३७४॥

**मोक्षोन्मुख ज्ञानियों की विरलता** –ऐसे दुष्प्रज्ञ लोग जिनके कुमति जगी है वे तो घर घर में मिलेंगे । किन्तु जो एक मुक्ति के, केवल्य के आनन्द का अनुभव करने की ही धुन बनाये हों ऐसे पुरुष दो तीन ही मिलेंगे अर्थात् बिरले ही मिलेंगे । मूढ़जनों में अपनी बुद्धि का प्रयोग करके कुछ भी लाभ न मिल पायगा । ये जो कुछ भी दिखने वाले पदार्थ हैं इनके जोड़ने से जो एक चित्तभ्रान्ति उत्पन्न हुई है, तुम भोगने की इच्छा जगी है इनमें कुछ भी सार नहीं है । जो केवल दृश्यमान पदार्थों को ही सारभूत मानते हैं वे नास्तिक हैं, अन्तस्तत्त्व का लोप करने वाले हैं, ऐसे मनुष्य तो घर-घर मिलेंगे । कोई धर्म की बातें भी करता हो, वैराग्य की बातें भी बोलता हो तो भी उसके आशय में क्या है इसका क्या पता । क्या सचमुच ज्ञानज्योति प्रकट है अथवा विरक्ति का परिणाम बन गया है । तो अनेक ऐसे मिलेंगे जो धर्म के नाम पर कुछ अपनी शान बनायें, पोजीशन बनायें, लोगों में अपने को भला जचवा लें ऐसे भी बहुत से लोग मिल

सकते हैं। किन्तु, यथार्थ परिणाम से यथार्थ प्रवृत्ति से अपने आपके अंतस्तत्त्व की रुचि रखने वाले लोक में बिरले हैं। जिनके सत्यार्थ का कुछ ज्ञान नहीं है, विषयों के प्रयोजन में जो अपना उद्यम रखते हैं ऐसे प्राणी तो घर-घर में विद्यमान हैं, परन्तु ऐसे ज्ञानी संत जो शाश्वत सहज आत्मीय परम आनन्दरूपी अमृत के समुद्र की किरणों से संसार की दाह को जला सकते हैं और कैवल्य अवस्था का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं ऐसे पुरुष इस लोक में अति बिरले हैं।

**ज्ञानियों की विरलता की बात पर शिवपथ में अनुत्साह न लाने का अनुरोध** –इस बिरलेपन को सुनकर कहीं चित्त में यह हिम्मत न हारना चाहिए कि ऐसे पुरुष बिरले ही हैं तो हमारा नम्बर क्या आयेगा। मनुष्यों की संख्या को निहारकर यदि यह कह दिया जाय कि १०-५ हजार पुरुष तो सम्यग्दृष्टि होंगे, यथार्थ वैराग्य भावना वाले होंगे तो यह झूठ भी नहीं है। अरबों खरबों मनुष्यों की तुलना में १०-५ हजार बिरले ही कहलाते हैं। जैसे आज यह कहा जाय कि हिन्दुस्तान में ऐसे पुरुष बिरले ही मिलेंगे जो मांस नहीं खाते हैं। शायद १ प्रतिशत ही लोग ऐसे होंगे। तो जरा जल्दी सुनकर कुछ विश्वास नहीं होता कि १०० में दो चार ही लोग खाते हैं। लेकिन जरा अपने देश के ही सभी जिलों में दृष्टि डाल कर देखोगे तो यह समझ में आ जायगा कि १ प्रतिशत तो बहुत कहा, पाव प्रतिशत भी न बैठेगा। हजार में एक ऐसा मिलेगा जो माँसभक्षी न हो। तो एक व्यापक दृष्टि को देखकर यदि कुछ जन यथार्थ पथ पर चलने वाले हों, तो वे भी बिरले ही तो हैं।

**सकल जनों की सम्मति से हित निर्णय की अशक्यता** –लोगों को तो बहु सम्मति पसन्द होती है जो अधिक राय हो उस पर चलना चाहते हैं ! तो अब बतलावो अधिक राय ज्ञानियों की मिलेगी या अज्ञानियों की ? वोट लेकर देखलो। आप कोई काम करना चाहते हों, भाई हमारा तेरा प्रोग्राम है कि साधु दीक्षा लें और आत्मध्यान में रत रहें। जरा वोट ले लो अपने रिश्तेदारों की। दूसरों को तो पड़ी क्या है, वोट दें या न दें। वे तो मजाक करके यही कहेंगे बस जावो साधु। उनकी कोई वोट नहीं है। वोट तो हृदय को कहते हैं। पहिले रिश्तेदारों से पूछ लो – कितने लोग इसके लिए राजी होते हैं। अपने घर वालों से पूछ लो। तो कुछ अपने उद्धार के लिए दुनिया के लोगों की प्रवृत्ति को निरखकर हम अपना निर्णय कुछ बनायें, क्योंकि खोटी सम्मति देने वाले प्रायः सब हैं, पर आत्महित की सम्मति देने वाले बिरले ही हैं। हम ज्ञानियों के सम्पर्क से और ज्ञानी संतों के इन वचनों से अपने आपका अपने विचार से निर्णय बनायें और जो आत्महितकारी विशुद्ध पंथ है, ज्ञान और वैराग्य का उत्पादक है उस पथ पर चलें और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परीग्रह इन मोटे पापों से दूर रहने का तो जीवन बनायें, इसमें ही हम आत्मध्यान के पात्र हो सकते हैं।

## श्लोक-375

यैः सुतं हिमशैलश्रङ्गसुभगप्रासादगर्भानतरे,

पत्यङ्गे परमोप धानरचिते दिव्याङ्गाभिः सह ।  
 तैरेवाद्य निरस्तविश्वषयैन्तः स्फुरज्ज्योतिषिं,  
 क्षोणीरन्प्रशिलादिकोटरगतैर्धन्यैर्निशा नीयते ॥३७५॥

ध्याता योगीश्वरों की ज्ञान से अपूर्व लगन –ध्याता योगीश्वर मुनि अवस्था से पहिले कैसी सुकुमारता और विषयसाधनों में रहते थे उसका वर्णन इस छन्द में इसलिए किया जा रहा है कि यह विदित हो जाय कि आत्मध्यान कितनी उत्कृष्ट साधना है कि ऐसे-ऐसे सांसारिक सुखों का भी परित्याग करके आत्मध्यान के लिए इतने भारी क्लेश सहे जा रहे हैं । जिन्होंने पूर्व अवस्था में हिमालय के शिखर समान सुन्दर महलों में बड़े उत्कृष्ट कोमल और सुगंधित रची हुई शैय्या पर शयन किया था और बड़ी आज्ञाकारिणी प्रियंवदा रमणियों के साथ जिन्होंने अपना समय सुख में बिताया था ऐसे ही पुरुष अब संसार के विषयों को दूर करके अंतरङ्ग की ज्ञानज्योति स्फुरित हो जाने से पृथ्वी में, पर्वतों में, गुफाओं में, शिलाओं पर, वृक्षों की कोटरों में निवास करके रात बिताया करते हैं । धन्य है उनकी आत्मसाधना की धुन कि ऐसे आराम को तजकर ऐसी जगह निवास करके आत्मध्यान करते हैं जहाँ साधारण पुरुषों से रहा भी नहीं जा सकता । आत्मध्यान कोई ऐसी उत्कृष्ट विभूति है कि बड़े पुण्यवंत पुरुषों को, बड़े भाग्यशाली महापुरुषों को, बड़े बड़े विषयों के साधनों में भी इस आनन्द की धुन के कारण चित्त नहीं लगा, और सब कुछ परित्याग करके ऐसे निर्जन स्थान में रहकर धर्म साधना किया करते हैं, पर्वतों की गुफाओं में जहाँ शेर, रीछ, चीता आदिक अनेक हिंसक जानवरों का आवागमन रह सकता है, जिस चाहे जगह से भयंकर विशैले सर्प निकल सकते हैं ऐसी जगह में ध्यान करके कोई विलक्षण आनन्द ही तो लूटा जा रहा है जिसके जिसके कारण अब ये ध्याता योगीश्वर ऐसे विषम संकटपन स्थान में आत्मध्यान कर रहे हैं । भला वृक्षों की कोटरों में जहाँ सर्प गुहा आदिक विषैले जानवरों का निवास रहा करता है वहाँ ही ये ध्याता योगीश्वर विलक्षण आत्मीय आनन्द पा रहे हैं । तो कोई आत्मध्यान उत्कृष्ट तत्त्व ही तो है कि सुन्दर महलों के निवास को तजकर और राजपाट की विभूति को छोड़कर एक आत्मध्यान के लिए इस प्रकार वृक्ष की खोह आदिक में निवास करके अपने को निर्मल बना रहे हैं, उन योगीश्वरों को धन्य है ।

### श्लोक-376

चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्यामये,  
 विद्राणेऽक्षकदम्बके विघटिते ध्वान्ते भ्रमारश्भके ।  
 आनन्दे प्रविजम्भिते पुरपतेर्ज्ञाने समुन्मीलिते,  
 त्वां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभितः पुस्तेच्छया श्वापदाः ॥३७६॥

**कल्याणस्वरूप की प्रतीक्षा** – हे आत्मन् ! अपने लिए यह सोच कि ऐसा वह कौन सा समय आयगा जिस समय मेरे मन में निश्चलता उत्पन्न होगी और रागादिक अज्ञान रोगों में शान्तता आ जायगी । वह क्षण धन्य है जिस क्षण मेरे मन में ऐसी संतुलित वृत्ति बनेगी कि मन तो निश्चल रहेगा और रागद्वेष अज्ञान, मोह ये सब रोग उपशान्त हो जायेंगे । ऐसे क्षण प्राप्त हों तो वे क्षण धन्य हैं । मोही जीव मन चाही विभूति के मिलने पर, स्त्री पुत्रादिक के मिलने पर खुशी मनाते हैं । अरे वे तो और भी संसार में फँसाने के साधन हुए । धन्य समय तो वह है जहाँ सबसे विविक्त ज्ञानमात्र अपने आपके आत्मस्वरूप का ध्यान बना रहे । वह क्षण धन्य होगा, जिस क्षण ये इन्द्रियों के समूह विषयों में प्रवृत्ति न करेंगे और धर्म को उत्पन्न करने वाला यह अज्ञान अंधकार नष्ट होगा । भ्रम दूर हो, अज्ञान दूर हो, इन्द्रियों के विषयों में आशक्ति न हो । ऐसी शुद्ध वृत्ति जिस क्षण जगे वह क्षण धन्य है । क्षण तो अनन्त व्यतीत हुए, अनन्त व्यतीत होंगे । अब तक के व्यतीत हुए समयों में हमने कोई भी समय ऐसा तो नहीं पाया जिस क्षण को पाकर संसार की समाप्ति का फैसला हो जाय, अथवा नया भी होगा तो फिर कुछ जाल ऐसा लग जाता है कि सम्यक्त्व का भी घात हो गया लेकिन एक बार सम्यक्त्व के प्रकट होने पर यह तो निश्चित ही है कि निकट काल में ही समस्त संकटों से दूर होकर कैवल्य का आनन्द प्राप्त करेंगे । वह क्षण धन्य है जिस क्षण इन्द्रिय के समस्त विषयों में प्रवृत्ति न करे और अज्ञान का अंधकार दूर हो जाय । उस क्षण की प्रतिज्ञा करें और उस क्षण के आभारी बनें जिस क्षण ऐसा आत्मज्ञान प्रकट हो जो आनन्द का विस्तार करता हुआ बने ।

**आत्मज्ञान और शुद्ध आनन्द के विस्तार में अभिन्न सम्बन्ध** – आत्मज्ञान और शुद्ध आनन्द के विस्तार में परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है । निर्विकल्प आत्मतत्त्व का उपयोग चल रहा है । निर्विकल्प आत्मतत्त्व का उपयोग चल रहा है और वहाँ आनन्द प्रकट न हो, संकट रहे यह कभी हो नहीं सकता । यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप, यह शुद्ध ज्ञानविकास शुद्ध आनन्दस्वरूप को लिए हुए है । जिस क्षण ऐसा उज्ज्वल ज्ञान चमके और आनन्द का अनुभव बने ऐसा क्षण धन्य है । कब ऐसी स्थिरता बने कि अपने आपको अपने देह तक का भी भान न रहे, ज्ञानमात्र अनुभव करते हुए निर्भार शुद्ध प्रकाशमय अपने को लखते रहें, और इस स्थिरता के कारण वन में चारों ओर से हिरण आदिक जानवर इस मुझ मूर्ति की काय को ऐसा निश्चल देखकर ऐसा समझ लें कि यह तो कोई ठूठ खड़ा है अथवा कोई चित्र लिखित मूर्ति है या कोई पाषाणखण्ड है ऐसा समझकर इस मुझको देखें और अति निकट आकर अपने शरीर की खाज खुजालें । इस पर्याय को दृष्टि में रखकर कहा जा रहा है कि इस देह को दृढ़ समझकर खाज खुजाने लगे । ऐसा समय आये तो वह समय धन्य है । वह क्षण धन्य है जिस क्षण इस निश्चल मूर्ति में ध्यानस्थ होंगे । और समझिये कि वही वास्तविक हमारा जीवन है और उद्धार का समय है । यों तो विषयों की और विषयों के अनेक साधनों की खबर रखते हुए, उपभोग करते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो गया, अब नवीन जीवन नवीन क्षण की प्रतीक्षा कीजिए । कब वह समय आये कि मेरा उपयोग एकदम पल्टा खाये और संसार

की ओर पीठ करके इस मुक्त स्वरूप की ओर अपनी दृष्टि बने, वह समय धन्य है । वही समय संकटों से छुटाने वाला है ।

### श्लोक-377

आत्मन्यात्मप्रचारे कृतसकलवहिःसंगसन्न्यासवीर्या,  
दन्तज्योतिःप्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः ।  
निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा,  
तस्य श्रीबोधवाधेर्दिशतु तव शिवं पादपङ्केरुहश्रीः ॥३७७॥

**ज्ञानलक्ष्मी का अनुपम प्रसाद** – जिसके आत्मा में अपने आपके स्वरूप का प्रवर्तन है, अपनी क्रिया, दृष्टि, आकर्षण, आशक्ति कहीं बाह्य की ओर नहीं है, किसी परपदार्थ में प्रवृत्ति नहीं है और बाह्यपरिग्रहों के त्याग से एवं अन्तरङ्ग ज्ञानज्योति का प्रकाश होने से जिसका महा मोहरूपी निद्रा का उत्कर्ष नष्ट हो गया है, जिसको स्वरूप का निश्चय होने से यह जगत शून्य की तरह विदित हो रहा है अथवा जड़ की तरह प्रतिभास रहा है ऐसी ज्ञान लक्ष्मी हम सबको मुक्ति प्रदान करे । वास्तविक लक्ष्मी की उपासना से ही इस जीव का उद्धार है । सारे दरिद्रों को यह ज्ञानलक्ष्मी ही निवृत्त करने में समर्थ है । लोक में रूढ़ि है कि धनार्थी लोग जिस किसी भी रूप में लक्ष्मी की कल्पना करे उसकी साधना करते हैं, यह जड़ वैभव क्या किसी की साधना से प्राप्त होता है । यह तो सब पुण्य के उदय से प्राप्त होता है और इस वैभव की बात तो ज्ञानियों की दृष्टि में दुःखरूप है । इन ठाठबाटों से आत्मा का क्या पूरा पड़ सकता है । केवल रुलना, बहकना ये सब स्थितियाँ चलती हैं । वास्तविक लक्ष्मी तो ज्ञान लक्ष्मी है जिसका प्रसाद हो जाय अर्थात् ज्ञान में निर्मलता बन जाय तो सदा के लिए संसार के समस्त संकटों को यह लक्ष्मी दूर कर सकती है । जड़ पदार्थों की वाञ्छा करके अपने आपके अनन्त आनन्द की निधि को खो देना यह कितनी बड़ी दरिद्रता का काम है । ऐसी दरिद्रता को यह ज्ञानलक्ष्मी नष्ट कर सकती है ।

**ज्ञानलक्ष्मी की उपासना से प्राप्तव्य शुद्धानन्द के लाभ का आर्शीवाद** – स्वरूप के निश्चय होने से यह जगत शून्य की तरह मालूम होता है । जगत क्या है ? कुछ नहीं है । जो कुछ दिख रहा है यह सब क्या है ? माया है । इसमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है । इसका आधार क्या है ? है यद्यपि द्रव्यस्वभाव मूल में किन्तु जो कुछ यह दृश्य बन गया है ये समस्त द्रव्य तो मायारूप हैं, विनाशीक हैं । जैसे केला के पेड़ को छीलते जाइये, पत्ते अलग होते होते जायेंगे, सारभूत कुछ भी तना न मिलेगा । सब पत्तों का समूह है, पत्ते बिखर गए वृक्ष का खात्मा हो गया । तो जैसे केले के पत्ते में सार कुछ नहीं है ऐसे ही इन सब दृश्य समागमों के पंख उखाड़ते जाइये, इनकी चिन्तना करते जाइये तो इनमें सारपना क्या है, ये सब

भिन्न हैं, जड़ है, इनकी ओर दृष्टि देने से आकुलता ही बढ़ती है, ऐसे ये असार परिग्रह इस ज्ञानी जीव को न कुछ जँचते हैं । ज्ञानी की दृष्टि में प्रतिष्ठा ही नहीं पाते हैं इस कारण यह जगत ज्ञानी जीव को शून्य की तरह मालूम होता है अथवा सब कुछ जड़ नजर आता है । ये जीव हाथ पैर चलाने वाले, यहाँ से वहाँ दौड़ लगाते, अनेक क्रियायें करते फिर भी जो कुछ दिख रहा है, जो कुछ बन रहा है वह सब जड़ ही तो है । एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसे ही मात्र चेतना समझकर इन समस्त चीजों को केवल जड़ की तरह निहारता है । ऐसी ज्ञान लक्ष्मी का जब उदय होता है तो अन्तरङ्ग में एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न होता है । वह आनन्द प्रकट हो ऐसा अनन्त योगीश्वरों ने जगत के प्राणियों को आर्शीवाद दिया है ।

### श्लोक-378

आत्मयत्तं विषयविरसं तत्त्वचिन्तावलीनं,  
निव्यापारं स्वहितनिरतं निवृतानन्दपूर्णम् ।  
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं,  
कृत्वाऽऽत्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥३७८॥

**आत्मा को आत्माधीन करने का स्मरण** – हे आत्मन् ! यदि तुझे संसार के संकटों से छूटकर अनन्त आनन्द का ही अनुभव करते रहने का प्रोग्राम है तो देख प्रथम तो तू अपने आपको पराधीनता से छुड़ाकर स्वाधीन बना । यह सबसे पहिली बात है करने की' जिसे निवारण चाहिए, प्रभुता चाहिए उसका कर्तव्य है कि सर्वप्रथम वह अपने को स्वाधीन तो अनुभव करे । जब तक यह आत्मा सबसे निराले एक अपने आपके स्वरूप को नहीं निहार सकता है तब तक वह मुक्ति का पात्र ही नहीं है । तो सर्वप्रथम तू अपने आपको आत्माधीन बना । यह सब एक ज्ञानप्रकाश से ही सम्भव है । जहाँ ही माना कि मुझे अमुक परिवार से सुख है और इन सबकी मैं रक्षा करता हूँ, ऐसी ही कल्पनाएँ जगी कि अपने आपको पराधीन बना लिया । जगत के सभी जीव स्वतंत्र हैं मैं भी स्वतंत्र हूँ, प्रत्येक का स्वरूप अपने आपके प्रदेश में है । किसी के प्रदेश किसी अन्य में प्रयुक्त नहीं होते हैं, अतएव सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं, ऐसी स्वाधीनता का निर्णय करने से ही अपने आपको स्वाधीन बनाया जा सकता है । किसी द्रव्य को किसी द्रव्य का स्वामी, कर्ता भोक्ता निहारा तो समझो कि अभी हमारी दृष्टि शुद्ध सहज स्वाधीन सत्त्व में नहीं गई । हम कैवल्य अवस्था प्राप्त कैसे कर सकते हैं ? जिन्हें कैवल्य स्थिति की अभिलाषा हो उनका प्रथम कर्तव्य है कि वे अपने आपको पराधीनता से छुटाकर स्वाधीन बनायें ।

आत्मा को विषयविरक्त, तत्त्वचिन्तनलीन, निव्यापार, स्वहितनिरत, निर्वृतानन्दपूर्ण व ज्ञानारूढ़ करने का अनुरोध – उपयोग में स्वाधीन बनने के पश्चात् फिर दूसरा कदम होना चाहिए कि अपने को इन्द्रिय के विषयों से विरक्त करें। वस्तुविज्ञान प्राप्त करने का फल यही है कि इन्द्रिय विषयों में रुचि न रहे। तो दूसरा कदम होगा ज्ञानी पुरुष का यह कि इन्द्रिय के विषयों से विरक्त रहे। ये इन्द्रियविषय नाना प्रकार से बहकाते हैं, किन्तु ज्ञान का ऐसा दृढ़ प्रताप बने कि इन इन्द्रियविषयों के बहकाये हम न बहक सकें। तीसरा कदम होना चाहिए कि तत्त्व के चिन्तन में लीन हो जायें। ये जगत के समस्त पदार्थ कैसे हैं, वास्तव में इनमें भी कौन सा स्वरूप है जो स्वरूप कभी भी मिटता नहीं है, ऐसी अपने आपके अन्तःस्वरूप की दृष्टि बनायें और ऐसे अन्तस्तत्त्व के चिन्तन में अपने को लीन करें तो यह कदम हमारे मोक्ष मार्ग में साधक होगा। चौथा कदम रखिये सांसारिक व्यापारों से रहित होकर निश्चलता रखने का। तत्त्वचिन्तन का वह प्रताप है कि वह तत्त्ववेदी सांसारिक वृत्तियों में नहीं उलझता और उन सांसारिक व्यवसायों से अपने आपको प्रथक् करके निश्चल बना रहा। ५वां कदम यह होना चाहिए कि स्वहित में लग जाय। जैसे अनेक बार विषयों में प्रवृत्ति की उमंग रहती है ऐसी ही धुन अपने आपके हित के लिए बने। मेरा किसमें कुशल है, मेरे आत्मा की उन्नति किस प्रसंग से है इन सब बातों का स्पष्ट निर्णय रखें और अपने हित में लगे। छठा कदम होना चाहिए – अपने आपको निवृत्त बना लें। जैसे निवृत्ति में क्षोभ-रहित आनन्द की परिपूर्णता प्रकट होती है ऐसा विशुद्ध आनन्दमय अपने आपको बनाने का यत्न करें। यह यत्न होगा अपने आपके स्वरूप को क्षोभरहित निहारने से। मेरे स्वरूप में क्षोभ है ही नहीं ऐसा दृढ़ निर्णय होने से बाह्य में भी आकुलता और प्रतिकूलता में क्षोभ नहीं आ सकता। ७ वां कदम हो अपने आपको ज्ञान में आरूढ़ करें, अपनी दृष्टि प्रवृत्ति ज्ञान में लगी हुई रहे कोई पूछे कि तुम्हें क्या चाहिए तुमको जो चाहिए वही हम दें। तो क्या माँगे? सामने एक ओर रख दें रत्न और एक ओर रख दें खली के टुकड़े और कहा जाय कि तुम्हें क्या चाहिए, जो माँगे सो मिलेगा और माँग बैठे खली के टुकड़े तो उसकी कैसी दयनीयस्थिति कही जाय? ऐसी ही संसारी प्राणियों की स्थिति है कि निकट तो है अनन्त आनन्द और जो केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है। जिसके प्राप्त होने में भी कोई श्रम नटखट नहीं करने होते फिर भी उस आनन्द निधि को न मांगकर केवल एक विषयसुखों की प्रीति रखे तो उसकी यह कितनी मूढ़ता भरी कल्पना है।

**शम, यम, तप और ध्यान का आधार – हे आत्मन् !** यदि मुक्ति की अभिलाषा है तो तू ज्ञान में आरूढ़ बन। इतनी तैयारी जब हो जाती है तब शम, यम, दम, तप और ध्यान की इसके दृढ़ता होने लगती है, कषायें शान्त हो जाती हैं। सदैव के लिए यम उत्पन्न होता है। अर्थात् मैं इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप में ही रहूँ। मेरा ऐसा निर्णय है, मेरी ऐसी प्रतिज्ञा है, मेरा ऐसा हठ है, मेरे आशय में अब कोई दूसरी बातें नहीं आ सकती ऐसा जिसका यम बन गया है, इन्द्रिय का दमन करना जिसको अति आसान हो गया है, तपश्चरण तो यों ही सहज चलता रहता है, ऐसी जब दृढ़स्थिति होती है, तो फिर इस आत्मा का दिव्यबोध प्रकट होता है। ज्ञान चमत्कार उत्पन्न होने का मूल साधन इतना है कि अपने आपको निर्मल

बनायें । यों दिव्यबोध अर्थात् केवलज्ञान का अधिपतित्व चाहिए तो अपने आपको इन आठ पद्धतियों में लगा दे तो अवश्य ही निज भगवान आत्मा के प्रसाद से कैवल्य की सिद्धि हो सकती है ।

### श्लोक-379

दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरं ।

ये लीलाः परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम् ॥

तं साक्षादनुभय नित्यपरमानन्दाम्बुराशि पुन-

र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥३७९॥

**परमेष्ठिभक्ति में अमरत्व का अनुभव** – ध्याता योगीश्वरों की प्रशंसा करने वाले इस अधिकार को पूर्ण करते हुए कहते हैं कि इस लोक में परमेष्ठियों के नित्यप्रति वचनों से बहुत काल पर्यन्त प्रभु लीला स्तवन को बड़े विस्तार करने वाले और स्तवन करके अपने को कृत बुद्धि मानने वाले क्या अनगिनते नहीं हैं ? हैं, किन्तु नित्य परम आनन्द अमृत की राशि को साक्षात् अनुभव करके अर्थात् परमेष्ठी परमात्मा के उस अनन्त ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव करके जो संसार के भ्रम को दूर करते हैं, अपने जन्म के भ्रम को दूर करते हैं वे पुरुष दुर्लभ हैं और ऐसे ही पुरुष धन्य हैं । आत्मा तो ध्रुव है, प्रत्येक पदार्थ ध्रुव है । इस अविनाशी आत्मतत्त्व की दृष्टि में तो यह निश्चित है कि आत्मा नष्ट नहीं होता और ऐसे ही आत्मा को आत्मा मानने पर यही उपयोग अमरत्व का अनुभव कहलाता है । मैं अमर हूँ । अपने अमर स्वरूप को अनुभव में ले तो यह आत्मा अमर है । जैसे कोई कथन में ऐसी बात आती है कि अमुक ने अमरफल खा लिया तो अमर हो गया । वह अमरफल क्या चीज है ? वस्तु जो आत्मस्वरूप है, स्वभाव है, अविनाशी तत्त्व है वह ज्ञान में आये तो अमर हुआ समझिये । कोई औषधि अच्छी मिल गयी और इससे वह दुर्बल नहीं हो सका, बीच में नहीं मर सका, बड़ी आयु पूर्ण करके ही मरा तो इतने मात्र से तो अमर नहीं कहलाता । अपने आत्मा का अमरत्वस्वरूप ध्यान में रहे तो वह अमर है । और इस दृष्टि से उसका फिर जन्म नहीं है । जन्म का क्रम समाप्त करने लिए अन्तरङ्ग में बहुत ज्ञान-बल चाहिए । जो किसी भी बाह्य पदार्थ से अपना हित अथवा सुख मानता हो, उनमें ममता रखता हो तो ऐसे संस्कार में, ऐसी दृष्टि में आत्मा के अमरस्वरूप का उपयोग नहीं रहता और फिर वहाँ मरण की कोई बात चर्चा में आने पर इसे क्षोभ होने लगता है । जिन्होंने मोह को मूल से नष्ट किया, अपने आत्मा के स्वतंत्रस्वरूप का जो प्रत्यय रखते हैं वे पुरुष अपने आपमें अमरत्व का अनुभव कर सकते हैं ।

**परमेष्ठिभक्ति में स्वभावनुभव की प्रेरणा** – परमेष्ठी की भक्ति का अर्थ ही यह है कि जो परमेष्ठी का स्वरूप है उस रूप में अपने आपका स्वभाव है यह तथ्य है, ऐसे निर्णयसहित अनुभव करना सो ही

वास्तव में परमेष्ठी भक्ति है । तो वचनों से बहुत-बहुत काल तक परमेष्ठी का स्तवन करने वाले, गान तान संगीत से भक्ति प्रदर्शित करने वाले तो अनेक लोग हैं परन्तु परमेष्ठी तो नित्य परम आनन्दस्वरूप हैं और इस दृष्टि के साथ-साथ अपने भी स्वभाव का स्पर्श होता रहे इस शैली से ध्यान करने वाले, भक्ति करने वाले पुरुष दुर्लभ हैं और ऐसे ही पुरुष धन्य हैं अथवा इस काल में ऐसे ध्याता योगीश्वर नहीं हैं तो भी जो सिद्ध का स्वरूप है वह स्वरूप है, जो ध्याताओं का स्वरूप है वह स्वरूप है । उसकी चर्चा सुनने से और ऐसे ध्याता योगीश्वरों के ऐसे गुणों पर ध्यान जाने से अपना मन पवित्र होता है और उसके विरुद्ध मिथ्यात्व आदि का विनाश होता है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को धारण करके तथा कषायों की शान्ति में, इन्द्रिय के दमन में और जैसे आत्मा शान्ति पथपर चल सके उस प्रकार अपने को नियंत्रण करने में जो चित्त देकर ध्यान करते हैं, अपने मन को रोकते हैं, एक आत्मस्वभाव में मन स्थिर करते हैं वे मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

## श्लोक-380

सुप्रयुक्तैः स्वयं साक्षात्सम्यग्दृग्बोधसंयमैः ।

त्रिभिरेपावर्गश्रीर्धनाश्लेषं प्रयच्छति ॥३८०॥

सुप्रयुक्तरत्नत्रय की साधना से अपवर्गश्री का आश्लेष – भली प्रकार प्रयोग किए गए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों के द्वारा अर्थात् तीन की एकता होने से मोक्षलक्ष्मी आत्मा को धनाश्लेष प्रदान करती है अर्थात् रत्नत्रय की अभेद साधना से मुक्ति की प्राप्ति होती है । ध्यान के सम्बन्ध में ही अब ध्यान के क्या अंग हैं, इस रूप से वर्णन किया जा रहा है । ध्याता पुरुष को कौन-कौन सी संभाल करना है, किन किन अङ्गों का साधन करना है जिससे परम ध्यान बन सके । इस प्रकरण में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना बतायी जा रही है और उसमें प्रथम सम्यग्दर्शन की साधना का वर्णन होगा, इसके बाद सम्यग्ज्ञान की साधना का और फिर सम्यक्चारित्र की साधना का वर्णन होगा । यह एक अधिकार रूप श्लोक है । ध्याता के अंग, ध्यान के अंग मुख्य तो ये रत्नत्रय हैं । अपने सहजस्वरूप का श्रद्धान हो, निज सहज स्वरूप में रमण हो इस शैली से जो आत्मा का पुरुषार्थ होता है, उस पुरुषार्थ से परम ध्यान की सिद्धि होती है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है, यह श्लोक में बताया है, उसका कारण कहते हैं ।

## श्लोक-381

तैरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणिबलीन्यपि ।

दृग्बोधसंयमैः कर्मनिगडानि शरीरिणाम् ॥३८१॥

**रत्नत्रय के बल से कर्मविशरण** – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनके द्वारा नाना प्रकार के बलवान कर्मरूपी बेड़ियाँ टूटा करती हैं । निश्चय से कर्म नाम तो आत्मा के द्वारा जो किया जाय, जो विभाव परिणमन किया जाय उसका नाम है और इस कर्म के होने पर जो ज्ञानावरणादिक रूप से कार्माणवर्गणायें परिणम जाती हैं उनका नाम कर्म हुआ व्यवहार से । जब जीव अपने आत्मा का शुद्ध श्रद्धान करता है, जैसा सहजस्वरूप है अपने आप पर की अपेक्षा बिना आत्मपदार्थ का स्वयं जो कुछ स्वभाव है, स्वरूप है उस रूप में अपने आपकी श्रद्धा करता है और उस ही रूप में अपने आपकी जानकारी रखता है और उस ही रूप दृष्टि बनाए रहने का पुरुषार्थ करता है, ऐसा ही ज्ञातादृष्टा रहने की स्थिरता बनाता है तो ऐसे परिणामों के समय विभाव नहीं होते हैं और फिर विभावनामक जो द्रव्य कम बँधे हुए थे वे भी निजीर्ण हो जाते हैं तथा विभाव झड़ जाते हैं, होते ही नहीं । यों द्रव्यकर्म भी झड़ जाते हैं, तब यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि सम्यक् के दर्शन से सम्यक् के ज्ञान से और सम्यक् के अनुरूप आचरण से बलिष्ठ और विचित्र कर्मों के बन्धन टूट जाते हैं और इससे ही मुक्ति प्राप्त होती है । अतः मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही है ।

## श्लोक-382

त्रिशुद्धिपूर्वक ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ।

व्यर्थ रत्तामनासद्य तदेवात्र शरीरिणाम् ॥३८२॥

**उत्तम ध्यान की रत्नत्रयविशुद्धिपूर्वकता** -- विद्वान् पुरुषों ने दर्शन ज्ञानचारित्र की शुद्धतापूर्वक ही ध्यान को माना है । जहाँ श्रद्धान निर्मल हो, ज्ञान निर्मल हो, आचरण निर्मल हो ऐसी स्थिति में परमध्यान बनता है । इस कारण रत्नत्रय की शुद्धि पाये बिना जीव के ध्यान की सिद्धि नहीं होती । क्योंकि रत्नत्रय के विरुद्ध जो कुछ भी ध्यानादिक साधनाएँ हैं वे मोक्ष फल के अर्थ नहीं है । वे सांसारिक सिद्धियों के लिए हैं । किसी ने श्वास निरोध का चमत्कार लोगों को दिखा दिया तो उसका प्रयोजन या तो धर्नाजन का होगा या कीर्ति का होगा । ऐसे ध्यान से मोक्षफल की प्राप्ति नहीं होती । जिसे मुक्त होना है उसका सही स्वरूप न

जाने और यह भी श्रद्धा में न आये कि जिन चीजों से हमें अपने को मुक्त करना है उन तत्त्वों से छूटे रहने का मेरा स्वभाव है तो मुक्ति का उपाय कैसे बनेगा ? मैं उस स्वभावरूप नहीं हूँ । ऐसी श्रद्धा होगी तभी तो छूट सकने का यत्न होगा और छूट सकेंगे । किसी भी प्रकार हुआ हो, यह आत्मा जो परतत्त्वों में लगा है, परिणत है, वे समस्त परतत्त्व मेरे सत्त्व में नहीं हैं, मेरे स्वरूप में नहीं हैं, अतएव वे हट सकते हैं, ऐसी श्रद्धा के साथ फिर ऐसी ही धारणा बने और ऐसे ही केवल निज आत्मतत्त्व को निरखा जाय तो इस निरख में आत्मा की उपयोग विशुद्धि बढ़ती है और कैवल्य का विकास होने लगता है ।

**रत्नत्रय की ध्यान मुख्याङ्गा** – उसके ध्यान के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्वारित्र ही मुख्य अङ्ग हैं । भले ही किसी सीमा तक चित्त के रोकने के लिए अन्य उपाय किए जायें – जैसे किसी बिन्दुपर बहुत देर तक दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास बढ़ाना या अन्य-अन्य जो जो उपाय हों ध्यानाभ्यास के लिए किए जायें किन्तु फल तो वही होगा जैसा आशय होगा । विशुद्ध आशय है तो ध्यानाभ्यास की साधना भी मुझे सहकारी बनेगी और विशुद्ध आशय नहीं है तो ध्यानाभ्यास के अनेक प्रयत्न भी मेरी शान्ति के साधन नहीं बन सकते हैं । तो रत्नत्रय की शुद्धि हुए बिना, प्राप्ति हुए बिना ध्यान करना व्यर्थ है, अर्थात् उस ध्यान से मुक्ति की सिद्धि नहीं है अतएव इस संभाल में अपने को लगायें कि मैं क्या हूँ, मेरा सहज स्वरूप क्या है, ऐसा ही जो एक सहजस्वरूप विदित हो, ज्ञानानन्दस्वरूप केवल ज्योतिपुञ्ज सबसे न्यारे अपने आपके स्वरूप में जो विदित हुआ यह परिचय होगा अद्भुत आनन्द के अनुभवों के साथ । जो इस ही तत्त्व की धुन बनाये उसके ध्यान साधना सुगम हो जाती है । उपाय करना चाहिए अपने आपके शुद्धस्वरूप को जानने का ।

## श्लोक-383

रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद्ध्यातुमिच्छति ।

खपुष्पैः कुरुते मूढः स बन्ध्यासतशेखरम् ॥३८३॥

**रत्नत्रय की प्राप्ति बिना उत्तमध्यान की असंभवता** – जो पुरुष साक्षात् रत्नत्रय को न पाकर ध्यान करने की इच्छा करता है अर्थात् आत्मध्यान, आत्मसिद्धि, विशुद्ध आत्मलाभ की इच्छा करता है वह मूढ़ पुरुष मानो आकाश के फूलों को बंध्यास्त्री के पुत्र के सिर पर रखने के लिए सेहरा बनाता है । अर्थात् जैसे न तो कोई बंध्या का पुत्र है, जिसमें पुत्र होने की शक्ति ही न थी ऐसी बंध्या के पुत्र की बात कही जा रही है, वह तो अभावरूप है और फिर उसके लिए सेहरा बनाया जाय आकाश के फूलों का । आकाश के फूल भी अभावरूप हैं अर्थात् यह बात तथ्यहीन है कि रत्नत्रय को छोड़कर कोई ध्यान करे और वह आत्मलाभ पाये । रत्नत्रय से ही परम ध्यान बनता है और उससे आत्मलाभ होता है । यों कहिये कि रत्नत्रय ध्यान

और मुक्ति का साधनभूत है, रत्नत्रय के पाये बिना उत्तमध्यान व मोक्ष हो ही नहीं सकता । हम अपने आपका सही निर्णय बनायें तब हमारी प्रगति शान्तिप्राप्ति के काम में चल सकती है । जिसे शान्ति देना है उसका ही पता नहीं और क्या देना उसका भी पता नहीं, जिसका कुछ निर्णय ही नहीं उसके लिए ध्यान क्या ? जैसे कोई बालक किसी को देखकर हँसे, उसे हँसता देखकर दूसरा हँसे, दूसरे का हँसना देखकर तीसरा हँसे, यों हँस तो सब रहे हैं पर उनसे पूछा जाय कि किस बात पर हँसी आयी, तो वे उत्तर क्या देंगे, कोई उत्तर उनके पास नहीं है । कोई ज्यादा डाट डपटकर पूछे तो कह देंगे – साहब ये हँसे सो हम हँस गए । तो जैसे वह निराधार हँसी है ऐसे ही समझिये कि अपने आपका स्वरूप जाने बिना और मुझे अपने में करना क्या है, पाना क्या है, यह सब कुछ जाने बिना धर्म के नाम पर कुछ भी प्रक्रिया की जाय वह बालकों के हँसने जैसी प्रक्रिया है । करना क्या चाहते हैं, होगा क्या, हो क्या रहा है, इसका कुछ पता ही नहीं, ध्यान साधना में लग रहे हैं तो यह ध्यान साधना नहीं हुआ ।

**आत्मपरमार्थ प्रयोजन व सरल उद्देश्य के निर्णय बिना मोक्षमार्गणा की अपात्रता –** विवेकी पुरुष कुछ काम करते हैं तो उनका प्रयोजन कोई सुदृढ़ अवश्य होता है । प्रयोजन के बिना कोई लोग कार्य नहीं करते हैं । धर्मसाधना का जैसा काम करना है तो उसका सही प्रयोजन तो बना लो । अजी बना लिया प्रयोजन । धर्म करने से स्वर्ग मिलेगा, देव होंगे, धर्म करने से घर के सब लोग सुख से रहेंगे, कुल चलेगा, परिवार सम्पन्न रहेगा । चाहे वे सब बातें हों चाहें न हों, पर इतनी बात तो हम सामने ही देखते हैं कि इन धर्मक्रियाओं के करने से समाज में इज्जत तो मिल ही जाती है, तो क्या यह कम बात है, ऐसा ही जिसने फल बनाया तो जितना बनाया उतना मिल भी जाय और न भी मिले दोनों बातें हैं, क्योंकि न वहाँ यथार्थ धर्म रहा और न धर्म का यथार्थ प्रयोजन रहा । तो पहिले यह निर्णय होना चाहिए कि मैं क्या हूँ, मुझे क्या करना है, मेरा क्या स्वरूप है और किस तरह से मेरा उद्धार है, कल्याण है, शान्तिलाभ है, सब निर्णय अपना रखना चाहिए । यदि एक शब्द में इन सब बातों का निर्णय चाहते हैं तो यों कह लीजिए कि जहाँ पराधीनता का अंश है वहाँ उद्धार नहीं है । इस बात को दिखावटी पराधीनताओं से निर्णय न बनायें । जैसे कोई सम्पन्न है, विषय साधन सामाग्री बहुत विस्तृत है, खूब किराया आता है, कोई चिन्ता नहीं है, परिवार का भली प्रकार गुजारा होता है वहाँ कोई सोचे कि मैं स्वाधीन हूँ तो वह अभी स्वाधीन नहीं है । किसी की ओर तो चित्त है, किसी से राग तो है, किसी को प्रसन्न करने की अभिलाषा तो है, किसी को कुछ अपना नाम बताने की इच्छा तो है, वे सब पराधीनताएँ हैं । जब अपने आपमें अपने ही द्वारा, अपने ही लिए, अपने से ही अपनी समृद्धि में बना रहे तो ऐसी स्थिति को स्वाधीन स्थिति कह सकते हैं । परविषयक कुछ भी अभिलाषा जगना ऐसे स्थिति में चाहे पुण्यप्रताप से कुछ भी वैभव हो स्वाधीनता नहीं कही जा सकती है । यथार्थ स्वाधीनता सम्यक्त्व जगने पर ही परिचित होती है और प्रकट होती है । इस कारण यथार्थ शान्तिलाभ पाने के लिए हमें अपने आपके स्वरूप का यथार्थ परिचय और प्रत्यय रखना चाहिए । इसी कारण अब इस अधिकार में सम्यक्त्व के सम्बन्ध में वर्णन

चलेगा ।

### श्लोक-384

तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ज्ञानम् ।  
पापक्रियानिवृत्ति चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ॥३८४॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र का निर्देशन – जिनेन्द्र भगवान ने तत्त्व को रुचि को तो सम्यक्त्व कहा है और तत्त्व का यथार्थ ख्यापन करना, अपने उपयोग में प्रसिद्ध करना यह ज्ञान कहा है, और पाप कार्य से निवृत्त होने को चारित्र कहा है । ध्यान के अंगों में मुख्य तीन अंग हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । जैसे बाह्यरूप से लोग ध्यान के ८ अंग कहते हैं – प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, यम आदिक यहाँ अर्न्तदृष्टि से ध्यान के अङ्ग तीन बताये हैं । सम्यक्त्व न हो तो ध्यान के लिए उत्साह नहीं हो सकता । यदि सम्यग्ज्ञान नहीं है तो ध्यान किसका किया जाय, और उसमें स्थिरता न हो तो ध्यान कैसे बने ? आत्मा की प्रतीति होना सम्यक्त्व है, आत्मस्वरूप का उपयोग होना सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूप में स्थिरता हो उसका नाम चारित्र है । तो ये तीन प्रकार की आत्मस्थितियाँ हुई, वहाँ उत्तम ध्यान बनता है । सर्वप्रथम तो आशय निर्मल रखने का यत्न रखना चाहिए । जब हम मोक्ष के मार्ग में लगना चाहते हैं तो हमारा किसी से लाग लपेट न होना चाहिए । जो विशुद्ध मार्ग है, जो आत्महित की दृष्टि है जिसके अवलोकन से अनुभवन से हमारी कषायें ढलती हैं, निराकुलता प्राप्त होती है, यही हमारा कर्तव्य है । न हमारा कोई यहाँ मित्र है, न शत्रु है, न अपना है, न पराया है । मेरा तो मात्र मैं हूँ । ऐसा सच्चा निर्णय रहे तब उसको उत्तम ध्यान की बात आ सकती है । तो ध्यान के अङ्गों में जिनेन्द्रदेव ने जो तीन अंग कहे हैं अर्थात् उनकी दिव्यध्वनि की परम्परा से जो आगम में बताया है वह आत्मस्वरूप है ।

### श्लोक-385

यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम् ।  
निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते ॥३८५॥

सम्यग्दर्शन का निर्देशन – जीवादिक का श्रद्धान करना सो दर्शन है । यह सम्यग्दर्शन निसर्ग से उत्पन्न होता और परोपदेश से उत्पन्न होता है । होता है भव्य जीव के । जिन्होंने पूर्वकाल में उपदेश पाया है,

संस्कार बनाया है उन्हें इस भव में भी बिना परोपदेश मिले, बिना अन्य निमित्त मिले निसर्ग से ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। और, किन्हीं को परोपदेश से जिनबिम्बदर्शन से या वेदानुभव से अनेक कारणों को पाकर सम्यक्त्व हो जाता है। सब बात एक लगन की है। अपने आपमें आत्मकल्याण की लगन न हो और पापक्रियाओं में ही रति मानते रहें, पापों से विरक्ति न लगे तो कुछ उद्धार की संभावना ही नहीं है। सबसे ऊँची बात बस इस रत्नत्रय में ही मिलेगी। अपने आपमें सही श्रद्धान हो और आचरण विशुद्ध हो इस जगत का क्या है? न हो अधिक सम्पदा तो आत्मा का क्या बिगड़ा और हो गयी सम्पदा तो आत्मा का क्या पूरा पड़ा। यह तो जगत है। आज ऐसी स्थिति है और कल न जानें कौन सा भव धारण करना पड़े। न समूहले तो हीनभव ही मिलेगा। तो सम्पदा प्राप्त हुई, समागम प्राप्त हुआ तो कौन सी भलेपन की बात हो गयी। मान लो यहाँ के लोगों ने बड़ा बड़ा कह दिया तो आखिर मोहियों ने ही तो बड़ा बड़ा कहा। ज्ञानी तो धन के कारण किसी को बड़ा नहीं मानता। धन वैभव बाहरी समागमों के कारण कोई बड़ा मानता हो तो मोही, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी ये ही लोग मान सकते हैं।

**उपसर्ग में कर्मनिर्जरण की कारणता – भैया !** अज्ञानियों से यदि बड़ा कहलवाने की चाह हो तो धन सम्पदा की भी वाञ्छा कीजिए। रही यह बात कि इसका दुःख लोगों को रहता है कि लोक में हमारा अधिक सम्मान नहीं है। सब कुछ पैसे के बल पर सम्मान होता है, तो यह भी एक तपश्चरण है, क्या? कि अज्ञानीजनों के द्वारा सम्मान न हो रहा हो तो उसका खेद न करना। आप समझ सकते हैं ना कि इस स्थिति में कर्मनिर्जरा भी कर सकते हैं। और तो बात क्या, जो साधर्मीजन हैं, अपने ही धर्म के मानने वाले लोग हैं, सधर्मीजन यदि अपमान करें और उस अपमान को समता से सह लें तो इसे कर्मनिर्जरा का कारण कहा है। तो यह बात तो भले के लिए है। जिनके विवेक हैं उनके लिए सब संयोग वियोग भले के लिए है। जिनके विवेक नहीं है उनके लिए संयोग वियोग सब पतन के लिए है। मुख्य बात विवेक की चाहिए। अपने आत्मा में लगने की चाहिए। शुद्ध बोध होने में किसका लगाव रखा जाय, जो राग करने वाले, राग दिखाने वाले परिजन, बन्धुजन मित्रजन हैं वे क्या हैं? एक तरह का जैसे सनीमा के पर्दे पर चित्र उकेरे जाते, खेल देखते हैं इस तरह इस आसमान पटपर यह बिल्कुल सनीमा सा दिख रहा है। कौन किसका है, सब भिन्न है, मायास्वरूप हैं, किनमें लगाव रखना है। आत्मकल्याण की धुन जब तक सही मायने में नहीं बनती तब तक धर्म की बात जगती नहीं है। ज्ञानप्रकाश होने पर असली ऊब आ जाती है सांसारिक बातों से और इस ही लगन की जड़ पर सब बात बनती है।

## श्लोक-386

क्षीणाशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात् ।

तत् स्याद्द्रव्यादिसामग्रया पुंसां सदृशानं त्रिधा ॥३८६॥

क्षायिक, क्षायोपशमिक व औपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति की निमित्त कारण – यह सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है – क्षायिकसम्यक्त्व, उपशमसम्यक्त्व, और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व । मोहनीयकर्म के जो सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियां हैं – मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, इनका क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है । इसका उपशम होने से, दबने से उपशम सम्यक्त्व होता है और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ । उदयाभावी क्षय व उपशम और एक सम्यक्प्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अथवा वेदकसम्यक्त्व होता है । निमित्त दृष्टि से सम्यक्त्व के ये भेद कहे गये हैं । प्रकृति मोह के उपशम से प्रकृति दर्शनमोह का उपशम चलता है । द्रव्य दर्शन मोह की अवस्था द्रव्यदर्शनमोह ही है । कहीं वह अवस्था मुझमें नहीं आयी, किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जिस काल में यह उपशम है उस काल में यह सम्यक्त्व होता है । और उसमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की विधि बनती है । हमारा जो कुछ भी परिणमन है एक वस्तुस्वरूप की दृष्टि से निरखा जाय तो कुछ भी परिणमन हो औपाधिक निरुपाधि सब कुछ परिणमन उसके स्वरूप के परिणमन से होता है ।

**विभावपरिणमन में निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी स्वातन्त्र्य का सद्भाव** – यह जगत इन्हीं दो बातों का तो मेल है जहाँ स्वतंत्रता पूर्ण है और अशुद्ध परिणमन के लिए निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी बन रहा है । जैसे भगवान की दिव्यध्वनि सहजस्वभाव से होती है, दूसरे की अधीनता बिना होती है इसके लिए दृष्टान्त दिया है समंतभद्रस्वामी का कि मृदंग बजाने वाले के हाथ से पीड़ित हुआ मृदंग उसमें से जो आवाज निकलती है वह मृदंग अपनी आवाज प्रकट करने के लिए किसी की अपेक्षा नहीं करता । यद्यपि स्थूल दृष्टि में ऐसा लगता है कि बजाने वाले ने न थपथपाया होता तो आवाज कहाँ से निकलती । तो यह बात तो मान ली गयी कि बजाने वाले ने बजाया तो आवाज निकली किन्तु मृदंग में से जो शब्द परिणमन हुआ तो अब किसकी अपेक्षा करे । इसको गहरी दृष्टि से देखना होगा । कर्मों का उदय आया ठीक है आ गया । अब उस काल में जो यह जीव क्रोधरूप परिणम गया सो क्रोधरूप परिणमते हुए इसने किसी की अपेक्षा नहीं की । यह स्वयं की परिणति से क्रोधरूप परिणम रहा है । वहाँ जो निमित्त हुआ, ठीक है वह घटना, उसका खण्डन नहीं परन्तु परिणमन जितना जो कुछ होता है चाहे उपाधि के सद्भाव में हो, उपाधि के स्वरूप को ग्रहण किए बिना ही परिणमन होता है । यह वस्तु में उत्पाद व्यय ध्रौव्य का स्वभाव वस्तु के कारण पड़ा हुआ है निमित्त होने पर भी निमित्त का परिणमन ग्रहण करके निमित्त का द्रव्य गुण पर्याय लेकर उपादान परिणमन नहीं करता । प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणमन से परिणमता है । यह एक विधि है कि इस तरह का संयोग हो तो इस तरह परिणम जाय । यह निमित्तनैमित्तिक का विधान है किन्तु परिणमन सबका अपने आपके अकेले से ही होता रहता है । दो द्रव्य मिलकर एकरूप नहीं परिणमा करते । जब यहाँ सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियों का उपशम है तो उसका निमित्त पाकर यह जीव अपने ही परिणमन से औपशमिक सम्यक्त्वरूप परिणमन रहा है । जब क्षय-

आदिक है तब क्षायिक आदि रूप परिणमन रहा है । तो यह निमित्त दृष्टि से वर्णन है ।

**अध्यात्मदृष्टि से आत्मा की समीचीनता की उद्भूति की पद्धति** – अध्यात्मदृष्टि से यह जीव ज्ञानोपयोग से जब एकत्वस्वरूप को जानकर उस एकत्वस्वरूप के जानन में ही अपना उपयोग लगाता है तो निरालम्ब होने के कारण, उपयोग में पर की अपेक्षा न रखने के कारण इसके एक निर्विकल्प अनुभूति जगती है । निर्विकल्प अनुभूति है उसका सम्बन्ध स्व से रहता है, क्योंकि पर का सम्बन्ध हो तो वहाँ निर्विकल्पता नहीं होती । यों निर्विकल्प स्व की अनुभूति के साथ जो एक शुद्ध प्रकाश अनुभव में आया बस उस अनुभव के साथ सम्यग्दर्शन होता है । स्व के अनुभव के बिना किसी भी पुरुष को सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हो सकता । सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद चाहे वह कभी स्व का अनुभव न रखे, पर का ज्ञानोपयोग रखे यह बात जुदी है, पर जिस क्षण सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब सम्यक्त्व सहज आत्मतत्त्व के अनुभव के साथ ही उत्पन्न होता है । अपने आपके सहजस्वरूप की रुचि जगना इसे सम्यक्त्व कहते हैं । तत्त्व की रुचि का नाम सम्यग्दर्शन है ।

## श्लोक-387,388

भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीवः पञ्चेन्द्रियान्वितः ।

काललब्ध्यादिना युक्तः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥३८७॥

सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्तितम् ।

तस्यौपशमिको भेदः क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥३८८॥

**सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पात्र** – सम्यक्त्व कौन ग्रहण करता है जो भव्य जीव हो, पर्याप्त हो, संज्ञी हो, पञ्चेन्द्रिय हो, वह काललब्धि आदिक से युक्त होता हुआ सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । भव्य सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, अभव्य नहीं करता ऐसी बात सुनकर कुछ ऐसा लगने लगता होगा कि इतनी कड़ी यह व्यवस्था क्यों बनायी गयी है । भव्य ही सम्यक्त्व प्राप्त करे अभव्य न प्राप्त करे । व्यवस्था बनायी नहीं गयी, जो बात सहज जैसी है वह बतायी गयी है । यह एक विशेषता है जैनदर्शन में कि जैनदर्शन इस बात को पसंद करता है कि जो बात हो उसे कहा जाय । कभी मिलजुलकर कोई बात बनायी जाय, कानून बनाया जाय, कुछ रचना बनाई जाय, ऐसा नहीं । जो हो उसे कहना चाहिए, इसको अधिक पसंद किया । अधिक बल तत्त्वनिरूपण में जैनशासन ने यह दिया है कि जो जैसा हो उसका वैसा श्रद्धान करना, उसका वैसा ज्ञान करना, उसके अनुसार अपना उपयोग रखना बस यही मोक्ष का मार्ग है । पदार्थ पदार्थ का जो ध्रुवस्वरूप है उसमें भी जो नवीन परिणमन होता है और पुराना परिणमन विलीन होता है यह सब पदार्थ का स्वरूप है । सब कुछ दृष्टि रचना सब पदार्थों का पदार्थों पर ही छोड़ा गया है । तो

जो जीव ऐसे हैं कि कभी सम्यक्त्व प्राप्त न करेंगे और सम्यक्त्व होने की पात्रता भी न पा सकेंगे ऐसे भी जीव हैं । और जो सम्यक्त्व प्राप्त करने की पात्रता रखते हैं, चाहे सम्यक्त्व पायें या न पायें ऐसे भी जीव होते हैं । तो ऐसे जो हों वे भव्य हैं, जो ऐसे नहीं हैं वे अभव्य हैं । भव्य जीव ही सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं । जो जीव लब्धपर्याप्तक हैं अर्थात् जन्म लिया और शरीर भी बनने की पूरी शक्ति नहीं आ पायी और मर गए, ऐसे छोटे-छोटे मरने वाले जीवों के सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता । अथवा निर्वृत्य पर्याप्त की स्थिति में भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता । मन ठीक बन जाय, शरीर की रचना की शक्ति आ जाय, कुछ इस भव को कहने सुनने का सत्त्व तो बने जिसे लोग कहें कि हाँ कुछ हुआ । ऐसी पर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व होता है । जो मन सहित जीव हैं वे ही सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं ।

**अपनी वर्तमान योग्यता का सदुपयोग करने का उत्साह** – सम्यक्त्व की पात्रता के वर्णन को सुनकर अपने आपका ख्याल लायें कि हमने ये सारी बातें प्राप्त की हैं । अब प्रमाद करते हैं तो हम अपने ऊपर यह बड़ा अपराध करते हैं । क्या नहीं मिला ? सब योग्यता तो मिल गयी । अब भी यदि हम आत्महित की रुचि नहीं बढ़ाते तो हम अपने आपपर अन्याय कर रहे हैं, अपना जन्ममरण संसार बढ़ा रहे हैं । चीजें तो सब प्राप्त कर ली योग्यता की, जिनका यदि उपयोग करें तो संसार के संकटों से छूटने का हम उपाय बना सकते हैं । यदि कुछ सम्पदा प्राप्त हो गयी तो क्या प्राप्त हो गया । वह तो तृणवत् असार है । कुछ लोगों को दिखाने पोजीशन बनाने की बात हो तो किसका नाम पोजीशन और किसको दिखाना, यहाँ कोई हमारा प्रभु नहीं है, हमारी सुनाई करने वाला नहीं है, और पोजीशन में भी क्या है ? यह तो सब विडम्बना हैं । ये नाक, आँख, कान आदिक सभी लग गए तो यह कोई पोजीशन की बात है क्या ? इन सब बातों से विरक्ति हो, अपने आपकी रुचि हो तब ही अपने हित की बात बन सकती है । खुद जरा कमजोर हों अपने ज्ञानबल में और संगति मिलती है मोहियों की अधिक तो उससे विडम्बना बनती है । खुद यदि समर्थ हैं तो काम बने या कुछ अनायास ही चिर काल तक सत्संगति रहे तो उसके प्रताप से अपने में बल बढ़े, तो भी कुछ सिद्धि की बात चल उठे लेकिन खुद कमजोर हों ज्ञानबल में और संगति मिले मोहियों की तो कैसी इच्छा जगेगी ? जैसी अन्य मोहियों की इच्छा होती है उस प्रकार की इच्छा जगेगी और इच्छा विकार के जगने से आत्मा में सर्व पतन अनर्थ होने लगते हैं । बड़ी जिम्मेदारी की बात है । कुछ बल पाया है तो जो चाहे कर लेना बड़ा आसान सा लगता है । कोई भी विषय भोग लेना, कुछ भी बात कर लेना, गरीबों को सता लेना, अनेक और और बातें कर लेना बड़ा आसान लगता है, लेकिन इसका क्या परिणाम होगा, इसकी ओर दृष्टि न दें यह भलाई की निशानी नहीं है ।

**अपमान उपसर्गों को विरासत मानने की ज्ञानशक्ति** – ऐसा ज्ञानबल जगना चाहिए कि हे प्रभो ! यदि कुछ अपमान की स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं तो वे भी मेरे लिए भेंट हैं, उपहार हैं, इनसे मेरा बिगाड़ क्या है, बल्कि शिक्षा मिली है । एक आत्मा में बल प्रकट हुआ है । सहज शक्ति का उदय हुआ है, परवस्तुओं से लोगों से उपेक्षा करने की प्रकृति बनी है, नहीं तो सन्मान सन्मान में और अनुकूल वातावरण में राग के मारे करे जा रहे थे । यदि अपमान मिल रहे हैं तो यह मेरे लिए एक बड़े उपहार की चीज है । हममें

सहनशक्ति जग रही है । हममें उपेक्षाभाव जगने लगा है, वह सामर्थ्य प्रकट हुआ कि ऐसा साहस बन गया कि जगत में जितने भी जीव हैं सभी के सभी मनुष्य यदि एक साथ निन्दा करें, अपमान करें इतने पर भी उनकी चेष्टा के कारण मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं है । न होता मैं इस मनुष्य भव में, अन्य किसी भव में होता तो यहाँ के सब कुछ मेरे लिए क्या थे ? तो विवेकी पुरुषों के लिए सभी स्थितियाँ भले के लिए हैं । कहाँ क्या बिगाड़ । यदि दरिद्रता है, विशेष सम्पदा नहीं है तो यह भी हमारे लिए एक विरासत की स्थिति है ।

**स्वहित के लिये परोपेक्षा की अनिवार्यता** – भैया ! यदि हित चाहते हो जितना जो कुछ वैभव होता उस सारे को लीपना पड़ेगा । उनकी व्यवस्था बनाना, चिन्ता करना, हिसाब लगाना और उसी के अनुपात से ही, उसी पोजीशन के अनुसार कल्पनाएँ बनाना और जब ऊँची कल्पनाएँ बन जाती हैं तो जरा-जरा सी बात में अपमान समझने की स्थिति बनने लगती है तो वे सब झंझट हैं । मेरा क्या बिगाड़ ? न मुझे कोई जानने वाला हुआ तो । ऐसे अनगिनते मुनि हुए हैं जिनको उनके समय में कोई जानता भी न था, लेकिन वे भी मुक्त हुए । उनके आनन्द में और तीर्थकर के आनन्द में कोई अन्तर है क्या ? उन अपरिचित मुनियों की समृद्धि में और परिचित मुनियों की समृद्धि में कुछ अन्तर है क्या ? एक विशिष्ट उपयोग जगता है विवेकी पुरुष में और इसी कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी परिस्थिति में घबड़ाता नहीं है । स्वयं अपने आपको निर्दोष सत्पथगामी होना चाहिए, उसको फिर कहीं भी क्लेश नहीं है । जो होता हो तो उसका यह ज्ञाता दृष्टा रहे तो जो विवेकी जीव हैं वही सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है । पञ्चेन्द्रिय तो होगा ही । पञ्चेन्द्रिय के बिना मन तो होता ही नहीं । तो ऐसा समर्थ आत्मा काललब्धि आदिक सामग्री मिलने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । और, उस सम्यक्त्व में ७ तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान है, और निमित्त दृष्टि से वह सब श्रद्धान ३ प्रकार का कहा है – औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक । यह सब योग्यता अपने आपमें है । थोड़ा अपने आपको अपने कल्याण की दृष्टि से, निहारना चाहिए और आशय निर्मल रखने का यत्न करना चाहिए ।

## श्लोक-389

सप्तानां प्रशमात्सम्यक् क्षयादुभयतोऽपि च ।

प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्त्वैविध्यं सुमेधसः ॥३८९॥

**सम्यक्त्व का स्वरूप** – मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति तथा अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ७ प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व, क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व और कुछ क्षय कुछ उपशम होने से तथा सम्यक्प्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है । यह सम्यक्त्व की

निमित्त दृष्टि से प्ररूपणा है । सम्यक्त्व तो विपरीत अभिप्रायरहित आत्मा का स्वरूप है । जहाँ भ्रम पूर्ण आशय नहीं रहा, जैसा सहजस्वरूप है उस प्रकार के निर्णय की दृढ़ता है रुचि है उसे सम्यक्त्व कहते हैं । यह जीव सम्यक्त्व के बिना चतुर्गति में भ्रमण कर रहा है । जब जिस पर्याय में पहुँचा उस पर्याय के समागम को अपना सर्वस्व मान लेता है और इसी कल्पना के कारण दुःखी रहता है । आत्मा का तो आनन्दस्वरूप है, दुःख का तो कोई काम ही नहीं है । लेकिन आनन्दस्वरूप आत्मा में न तो ऐसी रुचि है, न ऐसा प्रकाश है, न ऐसा आचरण है । अपने स्वभाव से भ्रष्ट होकर व्यर्थ ही बाह्य पदार्थों में जो आकर्षण चलता है बस यही दुःख का हेतु है । किसी पदार्थ को अपना माने, उसका संचय करे उसमें प्रीति रहे तो क्या है ? तब भी भिन्न है उन्हें भिन्न समझें तो भिन्न है ही । ज्ञान में भिन्न हो गया तब वहाँ कल्याण है । मोह में अकल्याण है । कुछ तत्त्व नहीं निकलने का । उस मोह का विनाश होने से सम्यक्त्व प्रकट होता है । जैसे किसी भीत को रगड़ कर स्वच्छ बना दिया जाय और उस पर रंग का चित्र बनाया जाय तो जिस भीत को स्वच्छ बनाया गया है उसे कहेंगे – भीत समीचीन हो गयी है, निर्दोष हो गई है । इसी तरह अपने आपके मंथन से, चिन्तन से, अनुभवन से विपरीत आशय से रहित हो जाना है उसे सम्यक्त्व कहते हैं ।

### श्लोक-390

एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् ।

आत्मनः शुद्धिमात्रं स्यादितरच्च समन्ततः ॥३९०॥

**सम्यक्त्व में द्रकटभूत चिन्ह** – ये सम्यक्त्व के चिन्ह हैं – प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, किन्तु इन रूप जो प्रकट भाव है वह सराग सम्यक्त्व में होता है । वीतराग सम्यक्त्व में तो एक आत्मा की शुद्धि मात्र है । वहाँ न आस्तिक्य का प्रकट विकल्प है, न प्रशम, संवेग, अनुकम्पा का प्रकट विकल्प है । इनका परिपाक है ।

कोई अपराध करे उस पर अपराध पर क्षोभ न आना किन्तु धीरता गम्भीरता से कुछ निर्णय करना, समतापरिणाम रखना, दूसरे को शत्रु न समझना यह सब प्रशम भाव में होता है । सम्वेग भाव में आत्मगुणों में अनुराग और संसार शरीर भोगों से वैराग्य, इस प्रकार का जो प्रवर्तन है यह सम्वेग भाव है । इसी प्रकार प्राणियों पर दया का भाव होना, उन्हें उपदेश देना, उनको हितमार्ग में लगाना, उनको अज्ञानग्रस्त निरखकर या सांसारिक कष्टों को देखकर चित्त में दया का परिणाम होना ये भी सरागसम्यक्त्व के चिन्ह हैं । जो पदार्थ जिस तरह है, उस तरह से ही है इस प्रकार का निर्णयरूप जो एक संकल्प है वह भी सराग सम्यक्त्व का चिन्ह है । विकल्प तरंग कल्पनाएँ कुछ भी एक भेदरूप बात

बनती है तो वहाँ वह राग का ही एक परिणाम है । वीतराग सम्यक्त्व में आत्मा की विशुद्धि मात्र है । सबसे निराले ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्व का अनुभवन वीतराग सम्यक्त्व में है । पर इसका परिच्छेदन यह वीतराग सम्यक्त्व में नहीं है, यह बात किसी न किसी रागांश को लेकर ही होती है । भले ही रागांश साथ है लेकिन सम्यक्त्व को सराग कहना यह एक उपचार कथन है । सम्यक्त्व राग सहित नहीं होता । सम्यक्त्व तो एक आत्मा की सिद्धि है, किन्तु आत्मा की सिद्धि के साथ कुछ रागरहित सम्यक्त्व होने पर जब तक राग रहता है ऐसे सरागी जीव के सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहते हैं । ध्यान के तीन अंग बताये गए – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । जब तक अपने आपके आत्मा का सही स्वरूप में विश्वास न होगा तब तक ध्यान किसका करे ? यहाँ वहाँ के बाह्य पदार्थों का ध्यान करने से तो कुछ आत्मा को लाभ नहीं मिलता । रागद्वेष का ही उदय चलता है । सही रूप में अपने आत्मा का श्रद्धान हो तो उसका ध्यान निर्मल बन सकता है । ध्यान के अङ्गों में प्रधान प्रथम सम्यग्दर्शन अङ्ग की बात चल रही है । यह सम्यग्दर्शन पात्र के भेद से दो प्रकार का है । एक सराग सम्यक्त्व और एक बहिरङ्ग सम्यक्त्व ।

### श्लोक-391

द्रव्यादिक यथासाद्य तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित् ।

पञ्चविंशतिमृत्सज्य दोषास्तच्छक्तिघातकम् ॥३९१॥

सम्यग्दर्शन में शंकादिक दोषों का अभाव – यह सम्यग्दर्शन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री को प्राप्त होकर तथा सम्यग्दर्शन की शक्ति के घात करने वाले २५ दोषों को छोड़ने से यह प्राप्त होता है । योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्राप्ति होने पर सम्यक्त्व होता है । निर्मल सम्यक्त्व में पच्चीसों दोष नहीं हुआ करते । शंका आदिक ८ दोष, जिनवचनों में शंका करना, अपने स्वरूप में संदेह होना, भय होना ये शंका ऐब दोष हैं । धर्मधारण करके भोगों की वाञ्छा करना, मुझे अमुक प्रकार के आराम भोग विजय प्राप्त हो, इनके लिए यात्रा जाप आदिक करना, इनको करके भोग वाञ्छा करना वाञ्छादोष है । साधुजनों की भक्त पुरुषों की सेवा में घृणा करना ग्लानी करना यह निर्विचिकित्सा दोष है । ये सम्यग्दर्शन के दोष हैं । इन दोषों के रहने पर सम्यक्त्व की विशुद्धि नहीं होती । सम्यक्त्व का लाभ भी नहीं होता । कुदेव, कुशास्त, कुगुरुवों को देखकर, उनका ढाल चाल चमत्कार निरखकर उनमें आदर बुद्धि जगना यह मूढ़ दृष्टि दोष है । किसी धर्मात्मा के दोषों को प्रकट करना अर्थात् धर्म की अप्रभावना करना, धर्म का लांछन व्यक्त करना ये सब अनुपगूहन दोष हैं । इनसे खुद का भी और दूसरों का भी अनर्थ होता है । धर्म की श्रद्धा से दूसरे भी चिग जाते हैं धर्म लांछनों को सुनकर । सो अनुपगूहन से अन्य जीवों को भी हित से विश्रुत रखा जाता है । सो अनुपगूहन का दूसरा नाम है अनुपवृंहण । अपने गुणों की वृद्धि में उत्साह न

करना ये सम्यक्त्व के दोष हैं । धर्मात्माजनों को निरखकर प्रेम का भाव न उमड़ना किन्तु ईष्या द्वेष का ही आशय रखना यह सम्यक्त्व का दोष है । धर्मात्मा पुरुष किसी प्रकरण में विचलित हो बनाये रहे हों तो उन्हें हर सम्भव उपायों से सहयोग देकर उन्हें धर्म में स्थिर करना सो तो स्थितिकरण है और डिगते हुए को और डिगा देना, उनको स्थिर न करना यह दोष है । अपने दुराचारों से अथवा अन्य विरोधी कर्तव्यों से धर्म की अप्रभावना फैलाना यह सम्यक्त्व का दोष है ।

**सम्यग्दर्शन में मद, अनायतन, मूढ़तादिक दोषों का अभाव** – इसी प्रकार ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल, रूप आदिक पाकर उनका मद करना, मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ यह दोष हैं । ऐसे भावों में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता । कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और इनके सेवक इनका आदर रखना, आस्था करना ये सब अनायतन हैं । ये सम्यक्त्व के दोष हैं । लोगों में धर्म के नाम पर जो कुछ भी बात प्रचलित है उस रुढ़ि में बहना । जैसे कोई समुद्र में, नदी में नहाने में धर्म मानते, कोई पर्वत से गिरने में धर्म मानते, कोई ढेलों को इकट्ठा करके या उन ढेलों के ढेर में एक ढेला फेंक देने पर धर्म मानते, ऐसी धर्म के बारे में जो रूढ़ियाँ चल रही हैं उनमें तत्त्व का निर्णय तो कुछ न करें और उसी में ही बह जायें यह भी सम्यक्त्व में दोष है । जो कुगुरु हैं, पाखण्डी हैं उनमें अपना पूजा भाव, आदर भाव करना सम्यक्त्व के दोष हैं । जो देव नहीं हैं, कुदेव हैं उनमें देवत्व का भाव करना सम्यक्त्व का दोष है । ऐसे इन सब दोषों से रहित सम्यक्त्व हुआ करता है ।

**सम्यक्त्व की शरणरूपता** – सम्यक्त्व में केवल अपने सहज स्वरूप का ध्यान और ऐसा ही स्वरूप जिनके प्रकट हो गया है ऐसे परमेष्ठी का भान होता है, भगवान आत्मा अरहंत परमेष्ठी इनके स्वरूप का श्रद्धान करना यह भाव जगता है और ऐसा ही भाव जगने पर जीव को निर्विकल्पता की उत्पत्ति होती है । यह दृश्यमान संसार तो मायाजाल गोरखधंधा की तरह है । जैसे गोरखधंधे में जितने चलें, उलझते जायेंगे अथवा जैसे मायाजाल देखने में तो बड़ा सुहावना लगता है, पर वह विडम्बना को उत्पन्न करने वाला है, ऐसे ही ये समस्त समागम जिनमें लोग भूल रहे हैं और मोहवश कुछ को अपना मान रहे हैं बाकी को गैर मान रहे हैं, अपने पाये हुए पुद्गल ढेर से बड़ी आस्था बना रहे हैं, यह सब पापभाव है और इन परिणामों से संसार में जन्म मरण करने का बन्धन चलता है । सम्यक्त्व के समान इस जगत में कोई उपकारी तत्त्व नहीं है, न कोई शरण है, अपना ही सम्यक्त्व भाव, अपना ही ज्ञानभाव, अपने में ही अपने को लगाने का पुरुषार्थ यह तो शरण है, बाकी अन्य कोई तत्त्व शरण नहीं है । भले ही पुण्य के प्रभाव से यहाँ बहुत बड़े-बड़े लोग बड़े सुखी नजर आये, लेकिन वह पुण्य मायारूप है और ये लोक के पोजीशन भी मायारूप हैं । सत्य आनन्द तो आत्मा जब अपने स्वभाव में रत होता है तब प्राप्त होता है ।

## श्लोक-392

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् ।

अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥३९२॥

सम्यक्त्व में निर्दोषता का बल – ये २५ सम्यग्दर्शन के दोष कहे हैं – तीन मूढता, ८ गर्व, ६ अनायतन और शंका आदिक ८ दोष ये २५ सम्यग्दर्शन के दोष कहे हैं । जिनको अभी बताया था ये सम्यक्त्व के दोष हैं और इनके विपरीत अर्थात् अपने आपकी ओर का लगाव ये सब गुण हैं । निःशंकता रहना, इच्छारहित, ग्लानीरहित रहना, विशुद्ध ज्ञानप्रकाशवान अपने गुणों की वृद्धि में उत्साह रहना, अपने गुणों में, प्रभु के गुणों में वात्सल्य होना, अपने को चलायमान न रखना और अपने आपमें अपने प्रताप को उन्नत करना, प्रभावित करना ये सब सम्यक्त्व के गुण हैं । देव, शास्त्र, गुरु में ही भक्ति जगे और देव शास्त्र गुरु के सेवक सम्यग्दृष्टि जनों में ही प्रीति जगे, अन्यत्र आस्था न रहे ये सम्यक्त्व के गुण हैं जो पुरुष विपरीत अभिप्राय से परे हो जाते हैं उसमें ये सब गुण अनायास प्राप्त हो जाते हैं ।

## श्लोक-393

जीवाजीवास्त्रवा बन्धः संवरो निर्जरा तथा ।

मोक्षश्चेतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः ॥३९३॥

सम्यक्त्व में श्रद्धेय जीवादिक सात तत्त्व – सम्यक्त्व के विषयभूत ये ७ तत्त्व हैं – जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष । इनमें संसार, संसार का मार्ग, मोक्ष और मोक्ष का मार्ग ये सब आ जाते हैं । संसार को भी समझना तत्त्व की बात है । संसारमार्ग भी समझ लेना यह भी तत्त्व है । मोक्ष और मोक्षमार्ग को समझ लेना यह भी तत्त्व है । ये समस्त भेद केवल एक में नहीं उत्पन्न होते । कम से कम दो होने चाहिएँ, तब वहाँ भेद विवरण सब कुछ बनता है । तो इन ७ तत्त्वों के मूल में २ चीजें हैं – जीव और अजीव । जब जीव में अजीव आता है तो वह आस्त्रव है । जीव में अजीव बंधता है तो वह बंध है । जीव में अजीव न आ सके वह संवर है । जीव में पहिले आये हुए अजीव झड़ जायें सो निर्जरा है और जीव में अजीव सब अलग हो जायें, केवल जीव ही, जीवस्वरूप रह जाय वह मोक्ष है । जीव का स्वरूप शुद्ध ज्ञायक है । उस ज्ञायकस्वरूप जीव के ज्ञायकस्वरूप भाव से विपरीत रागद्वेष आदिक भावों को अपने उपयोग में लगाना आस्त्रव है और उन अजीवों में रागादिक भावों में अपने को रमाना, परम्परा

कायम रखना यह बंध है । जीव में रागादिक विकार नहीं हैं ऐसा विशुद्ध उपयोग करके रागरहित अपने को अवलोकन करना यह संवर है और ऐसी स्थिति में उसके संस्कार मिटना सो निर्जरा है और जब यह जीव केवल अपने ही गुणों के विकास में परिपूर्ण है, समस्त परतत्त्वों का अभाव होता है, अपने ही सत्त्व के कारण सहज जो अपने आपमें बात बन सकती है, वही रह जाय इसी का नाम मोक्ष है । ये जीवादिक ७ तत्त्व सम्यक्त्व के विषयभूत हैं इनके यथार्थ श्रद्धान से सम्यक्त्व प्रकट होता है ।

## श्लोक-394

अनन्तः सर्वदा सर्वो जीवराशिर्द्धिधास्थितः ।

सिद्धेतरविकल्पेन त्रैलोक्यभुवनोदरे ॥३९४॥

**जीव और जीव के भेद** – इन तीन लोकरूपी भुवन में जीवराशी सदाकाल अनन्त है । यह तो प्रथक्-प्रथक् व्यक्तिगत अपने स्वरूप तत्त्व की दृष्टि से अनन्त जीव हैं । उन समस्त जीवों को केवल एक जीवत्वस्वरूप की दृष्टि से देखा जाय तो जीव एक है और व्यवहार नय का आश्रय करके पर्यायावलम्बन करके इन जीवों को निरखा जाय तो इसके भेद प्रभेद करते जाइये । बहुत हो जाते हैं । जैसे संसारी और मुक्त ये दो प्रकार के जीव होते हैं, एक वे जो संसारी हैं, संसार में भ्रमण करते हैं, और एक वे जो मुक्त हैं, सांसारिक संकटों से छूट चुके हैं । सिद्ध और संसारी इन दो प्रकार के जीवों को जानकर यथार्थस्वरूप इनका निर्णय करने पर हेय और उपादेय की बुद्धि स्वयं जग जाती है । संसारी होना हेय है, सिद्ध होना उपादेय है । अपने ही गुणों से समृद्धिशाली बन जाना यह उपादेय है और अपने गुणों का घात करके मलिन आशय में बना रहना यह हेय है । एक पदार्थ उतना होता है जितने में एक पदार्थ व्यापकर रहता है, जिससे बाहर वह नहीं रहता है । जो एक है उसमें स्वभाव एक है, परिणमन एक है । उस एक के परिणमन को जो कि अवक्तव्य है, हम समझने के लिए उसमें भेद करके समझते हैं – जो जानता है वह जीव है । जो श्रद्धान करता है वह जीव है । जो अपना आचरण रखता है वह जीव है । भेद करते जाइए, पर कोई पदार्थ जो एक है उसमें जब जो भी परिणमन होता है उस काल में वह परिपूर्ण परिणमन है और वह एक परिणमन है, किन्तु जब अनुभव भेद से निरखते हैं तो सब जीवों में अपने-अपने परिणमन का ही अनुभव पाया जाता है । कोई किसी दूसरे के अनुभव को भोग नहीं सकता । चूँकि सबमें अपना-अपना जुदा-जुदा अनुभव है इस कारण वे सब जुदे जुदे जीव हैं । आपका सुख दुःख आप भोगते हैं, हमारा सुख दुःख हम भोगते हैं । प्रत्येक जीव में जो भी परिणमन होता है उसका अनुभवन वही जीव करता है ।

**तत्त्वज्ञान की शरण्यता** – इस जीव का इस लोक में न कोई साथी है न शरण है । अपना ही सम्यग्ज्ञान

अपने आपको धैर्य देता है, संमार्ग पर लगाता है और संकटों से बचाता है । मेरा संकटहारी मेरा तत्त्वज्ञान है, दूसरा और कोई नहीं है । कोई पुरुष कितना ही बड़ा धनिक हो, उसके ज्ञान में चलितपना आ जाय तो वह दुःखी रहता है और दूसरे के वश की बात नहीं रह पाती । जो भी अनुभव है वह खुद का खुद में अभिन्न होकर अनुभव किया करता है । यों अनुभव के भेद से जीव के भेद पर निगाह दें तो ऐसे तो अनन्तानन्त जीव हैं, जिनमें अनन्त मोक्ष भी चले गए और अनन्त मोक्ष भी जायेंगे, फिर भी वे जीव अनन्तानन्त हैं और अनन्तानन्त काल सदा काल रहेंगे । यों उनके स्वरूपास्तित्व का और सादृश्य अस्तित्व का निर्णय रखकर जीव को समझना यह सर्वप्रथम जरूरी निर्णय करना हो जाता है, जो कल्याणमार्ग में बढ़े हैं, वे इसी उपाय से बढ़े हैं । हम अपने को सबसे निराला केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र निरखें तो यह दृष्टि ही हमें जगत से उद्धार के लिए हस्तावलम्बन का काम देती है, दूसरा कोई मेरे को शरण नहीं है ।

## श्लोक-395

सिद्धस्त्वे कस्वभावः स्याद्दग्बोधानन्दशक्तिमान् ।

मृत्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युतः ॥३९५॥

**कैवल्यस्वभाव की श्रद्धा में सम्यक्त्व की उद्भूति** – जीव दो प्रकार के बताए गए हैं – एक तो सिद्ध और दूसरे संसारी । उनमें जो सिद्ध हैं वे व्यक्तरूप में भी एकस्वभावी हैं, सब एक समान हैं और चैतन्यस्वभाव का वहाँ परिपूर्ण प्रकाश है । दर्शन, ज्ञान आनन्द, शक्ति इन चार अनन्त चतुष्टयों से वे सम्पन्न हैं, जन्म मरण आदिक संसार के क्लेशों से रहित हैं । यह आत्मा केवल रह जाय, सब लेपों से पिन्डों से छूट जाय, जैसा इसका स्वभाव है, जो अपने सत्त्व के कारण है, इतना ही मात्र प्रकट अकेला रह जाय तो इसी के मायने हैं सिद्ध हो गया, मुक्त हो गया, प्रभु हो गया, कैवल्य हो गया । अपने आपके प्रति ऐसी ही धारणा रखना चाहिए कि हे नाथ ! जैसे तुम एक हो । जैसा जो आपका स्वरूप है वही मात्र अब प्रकट है, इसमें जो कोई विकार परिणमन नहीं है, केवल है । ऐसा ही केवल मैं होऊँ तो समझिये कि जो कुछ करने योग्य काम हुआ करता है वह कर लिया । जब तक यह कैवल्य नहीं आता तब तक यह जीव संसारी है, रुलता फिरता है । अपने कैवल्यस्वरूप की याद के बिना इस कुटेवी जीव की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है और जैसा जो कुछ किसी संग प्रसंग से भाव बना उस ही भाव को अपनी चतुराई समझकर उसी में ही रत रहता है । और जगत के अन्य जीवों से हित निरखकर अनन्त प्रभुवों का निरादर करता है । केवल होने में ही इस जीव का कल्याण है । हे नाथ ! अरे यह कैवल्यस्वरूप प्रकट हो, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी निकट समागम रहे उससे मेरा कुछ भी महत्व नहीं है, उससे कुछ भी पूरा नहीं

पड़ता । प्रभु केवल है और इसी कारण अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द से सम्पन्न है, अब इनके जन्म जरा मरण आदिक सांसारिक कोई से भी क्लेश नहीं रहे, ऐसी श्रद्धा हो वहाँ सम्यक्त्व प्रकट होता है ।

### श्लोक-396

चरस्थिरभवोद्भूत विकल्पैः कल्पिताः पृथक् ।  
भवत्यनेकभेदास्ते जीवाः संसारवर्तिनः ॥३९६॥

संसारी जीवों में त्रस और स्थावर का भेद – संसारी जीव त्रस और स्थावररूप संसार से उत्पन्न हुए भेदों से नाना प्रकार के हैं । संसारी जीव के मूल में २ भेद हैं – त्रस और स्थावर । जिनके त्रस नामकर्म का उदय है, जिसके कारण जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जाति में जन्म लेते हैं, वे त्रस हैं और जो एकेन्द्रिय हैं वे सब स्थावर हैं । त्रस और स्थावर की यह भी शब्द व्यवस्था है कि जो चलें, उद्वेग करें, क्रिया कर सकें वे त्रस हैं और जो वहीं के वहीं खड़े रहें वे स्थावर हैं । यद्यपि शब्द की इस अर्थ शक्ति रूप से और इसकी सदृश्यवृत्ति से अर्थ जीवों में यह कुछ कुछ घटित होता है, फिर भी साक्षात् रूप यह व्याख्या पूर्ण नहीं उतरती । जो स्थिर हैं, चल डुल नहीं सकते, गर्भस्थ हैं, अंडस्थ हैं, लेकिन कहलाते त्रस ही हैं और जो बहता जल है, चलती वायु है लपकती आग है ये सब स्थावर हैं । अर्थात् सही व्याख्या यह है कि त्रस नामकर्म का उदय जिनके हो वे त्रस हैं और स्थावर नामकर्म का उदय जिनके हो वे स्थावर हैं ।

### श्लोक-397

पृथिव्यादिविभेदेनः स्थावराः पञ्चधा मताः ।  
त्रसास्त्वनेकभेदास्ते नानायोनिसमाश्रिताः ॥३९७॥

स्थावरों के भेद – स्थावर ५ तरह के माने गए हैं – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति । ये ५ प्रकार के स्थावर कोई हमें समझ में आते हैं, प्रकट हैं और कोई सूक्ष्म होने के कारण समझ में नहीं आ पाते । ऐसे भी स्थावर हैं । पत्थर, मिट्टी, कंकड़, मुरमुर मिट्टी, लोहा, चाँदी, ताँबा, सोना इत्यादि जो खानों में हैं वे सब पृथ्वी हैं, जीव हैं । जल, ओस आदिक ये जलजीव हैं । अग्नि आग बिजली आदिक ये सब

अग्निकाय हैं और वायुकाय है हवा । जो पवन चलती है, लगती है वह हवा है । और वनस्पतिकाय मोटेरूप में वनस्पति नाम लेने से वृक्ष, पौधे, घास इनका ही ग्रहण होता है, किन्तु वनस्पतिकाय दो प्रकार के कहे गए हैं – एक साधारण वनस्पति, दूसरे प्रत्येक वनस्पति । साधारण वनस्पतिकाय तो निगोद का नाम है । जिसे लोग निगोद कहते हैं वे साधारण वनस्पति हैं । साधारण वनस्पति पकड़ने में खाने में देखने में नहीं आते । जितने छूने, पकड़ने, खाने में आते हैं वे प्रत्येकवनस्पति हैं, लेकिन प्रत्येकवनस्पति में जिसमें साधारण वनस्पति के जीव भी होते उसे कहते हैं सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति । और जिसमें साधारण वनस्पति न हो, निगोद जीव न हो उसे कहते हैं अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति । लोक में ऐसा कहने की रूढ़ि हो गयी कि सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति को सीधा साधारण वनस्पति कह देते हैं । इस रूढ़ि में सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति न खाना चाहिए यह कहने का प्रयोजन है । तो जिस कारण से सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति न खाना चाहिए उसी कारण का भाव रखकर सीधा कह देते कि यह तो साधारण वनस्पति है । जैसे कोई खोटा सोना लायें जिसमें ८ आने भर पीतल ताँबा वगैरह मिला हो तो उसे देखकर लोग कह देते हैं कि यह तो तुम पीतल ले आये । ऐसे ही सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति को साधारण वनस्पति कह देना उसका भी ऐसा ही प्रयोजन है । आलू अरबी लहसुन आदिक ये सब अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति हैं । साग सब्जी के बाजार में पहुंच जावो तो प्रायः ये सभी दुकानदारों के पास डालियों में दो हिस्से तो सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति मिलेगी और एक हिस्सा अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति मिलेगी । जब उनके खाने के प्रेमी हो गए तो उनका उत्पादन भी बढ़ा लिया गया है । ये सब वनस्पतिकाय हैं । जो केवल साधारण वनस्पतिकाय हैं, प्रत्येकवनस्पति के आधार में भी नहीं हैं वे यत्र तत्र सर्वत्र भरे पड़े हैं । यहाँ जो पोल दीखती है वहाँ पर भी निगोद जीव भरे पड़े हैं ।

**आशय से अहिंसा का निभाव** – कोई मनुष्य ऐसा सोचे कि मेरे शरीर के निमित्त से, मेरी चेष्टा के निमित्त से किसी भी जीव को दुःख न हो । यह सोचना तो उसका बहुत ठीक है, ऐसा सोचना चाहिए, किन्तु कोई बाहर में निरखकर यह बताये कि देखो इसके कारण दूसरे जीव को क्लेश हुआ है तो क्या इससे पाप बंध हो जायेगा ? उसके आशय की बात है । किसी सज्जन धर्मात्मा को निरखकर धर्म का अनादर करने वाले, मात्सर्य रखने वाले बहुत लोग निन्दा करते हैं तो क्या इससे उनकी आत्मा निंद्य हो जाती है ? स्वयं के आशय में अपवित्रता, न होना चाहिए, उससे निर्णय हुआ करता है, नहीं तो बतावो कहाँ बैठोगे ? जहाँ बैठोगे वहीं जीव हैं । पाल्थी मारकर बैठोगे तो पैर के भीतर भी जीव हैं, जमीनपर बैठो तो वहाँ भी तुम्हारे शरीर से जीवों को पीड़ा पहुंच गयी । कहाँ बैठोगे ? आशय की विशुद्धि से अहिंसा की बात चलती है ।

**त्रसों के भेद** – स्थावर जीवों से यह समस्त लोक भरा हुआ है और त्रस भी अनेक भेद वाले हैं । दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, इनकी जल्दी पहिचान करना हो कि ये कितने इन्द्रिय जीव हैं तो उसकी मोटी पहिचान यह है कि जिनके पैर न हों और सरक सकें उसमें एक साँप को तो छोड़ दो, उस जैसे जीव को, वह एक अपवादरूप है । बाकी जितने जीव ऐसे मिलेंगे कि पैर नहीं हैं, लम्बा रुख है, बिना पैर के जमीन में सरकते रहते हैं, वे जीव दो इन्द्रिय मिलेंगे । जिन जीवों के चार से

अधिक पैर हों, चलते हों वे तीन इन्द्रिय मिलेंगे, जैसे चींटा चींटी सुरसुरी, बिच्छू आदि और जिनके दो से अधिक पैर हों और उड़ते हों वे चार इन्द्रिय जीव हैं – जैसे मच्छर, ततैया, टिड्डी, आदि और पञ्चेन्द्रिय जीव स्पष्ट हैं – जिसके कान हों – पशु, पक्षी, मनुष्य आदि । तो ये नाना भेदरूप त्रस अनेक प्रकार की योनियों के आश्रित हैं । इन सब जीवों की पर्यायों का भी सही-सही ज्ञान करना सम्यक्त्व का कारण है । जो कुछ नजर आता है असल में है क्या ? इसमें परमार्थ क्या है, बनावट क्या है, उपाधि क्या है ? सबका सही परिज्ञान हो उससे अन्तः अनाकुलता निर्व्याकुलता, ज्ञानप्रकाश, समीचीनता, स्थिरता ये सब बातें बढ़ती हैं, इस कारण सबका जानना आवश्यक है । परोक्षभूत तत्त्व में साधारणतया द्रव्य गुण पर्यायों का स्वरूप जान लेना जरूरी है । यों संसारी जीव त्रस स्थावर के भेद से दो प्रकार के कहे गए हैं ।

### श्लोक-398

चतुर्धा गतिभेदेन भिद्यन्ते प्राणिनः परम् ।

मनुष्यामरतिश्चो नारकाश्च यथायथम् ॥३९८॥

**संसारी जीवों की चतुर्गतिकता** – संसारी जीव गति के भेद से चार प्रकार के हैं – मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारक । जिनके मन की उत्कृष्टता है उन्हें मनुष्य कहते हैं, यह शब्द व्याख्या से अर्थ हुआ और है भी सब जीवों से श्रेष्ठ मन मनुष्य का । हित, अहित का विवेक करे और हित अहित की प्राप्ति और परिहार का उपाय करे और इतना विशिष्ट ज्ञान बनाये जो ज्ञान निर्विकल्प दशा का भी कारण बन जाय, ये सब बातें मनुष्य में होती हैं इस कारण श्रेष्ठ मन का मनुष्य माना गया है । श्रुतकेवली समस्त श्रुत के वेत्ता मनुष्य ही होते हैं । तो श्रेष्ठ मन वाले जो हों उन्हें मनुष्य कहते हैं और सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यगति नामक नामकर्म का जिनके उदय हो, मनुष्य आयु का उदय हो उन्हें मनुष्य कहते हैं । और जो मनचाही नाना प्रकार की क्रीड़ा करें, रमण करें उन्हें देव कहते हैं । मनमाने भोग, मौज, खुशी के साधन देवों को मिला करते हैं । सिद्धान्त के अनुसार देवगति नामक नामकर्म का जिनके उदय हो उन्हें देव कहते हैं । और जो ठेढ़े मेढ़े चलें उन्हें तिर्यञ्च कहते हैं । जो कुटिल भाव, छल, कपट करके रहें वे तिर्यञ्च कहलाते हैं । सिद्धान्त के अनुसार जिनके तिर्यञ्च आयु नामक कर्म का उदय हो उन्हें तिर्यञ्च कहते हैं । शब्द व्याख्या से भी देख लो, तो टेढ़े मेढ़े तिर्यञ्चों में ज्यादा होती है । न जाने किस किस आकार के तिर्यञ्च पाये जाते हैं । मनुष्यों की तो एक सकल है । उसी में ही नाना भेद हो जायें पर आकार वैसा ही होता है । तिर्यञ्चों में देखो कितनी तरह के कीड़े मकोड़े, किस किस प्रकार के टेढ़े मेढ़े हुआ करते हैं, जिनका आकार बड़ा विचित्र होता है । देखने में लगता है कि यह पत्ता पड़ा है, पर जरा भी चलने फिरने लगा तो मालूम होता कि यह तो कीड़ा है । कोई कोई कीड़ा देखने में डोरे जैसा मालूम होता है तो टेढ़ेमेढ़ा इन

तिर्यञ्चों में ज्यादा है । नारकी जीव उन्हें कहते हैं जो रत न रहें अथवा जो दूसरे जीवों को दुःखी करें । सिद्धान्त के अनुसार नरक आयु कर्म का जिनके उदय है वे नारकी जीव होते हैं ।

**मनुष्यगति की श्रेष्ठता और उस अधुव पर्याय में ध्रुव तत्त्व का लाभ ले लेने का अनुरोध** – इन चारों गतियों में श्रेष्ठगति मनुष्य की बताई गई है । वैसे जनसाधारण में लोग जो कुछ समझते सुनते हैं थोड़ा बहुत वे देवगति को अच्छा कह देंगे और धर्म करके प्रार्थना भी बहुत से करते हैं – हे भगवान हम स्वर्ग में उत्पन्न हों, देव बने, पर श्रेष्ठता तो मनुष्य भव में है जहाँ से विशिष्ट आत्मकल्याण की सिद्धि हो सके । थोड़ी देर को बन गये बड़े और पीछे बनना पड़े गधा तो उस बड़प्पन को कोई महत्त्व नहीं देता, न कोई चाहता है । इसीलिए तो जैनप्रक्रिया में किसी लड़के को भगवान रूप सजा देना विधि में नहीं बताया है । आज तो बना दिया किसी गरीब के लड़के को नेमिनाथ भगवान और नाटक पूरा होने के बाद इधर उधर भीख माँगता हुआ दिखे तो देखने वाले लोग उसे क्या कहेंगे । तो जैनप्रक्रिया में किसी पुरुष को तीर्थङ्कर साधु इनका भेष रखने की आज्ञा नहीं है । कोई कल्पना में बहुत बड़ा बन जाय और फिर उसमें घटती बात हो जाय तो उसमें लोग खेद मानते हैं । तो देव भी बन गए जहाँ सागर पर्यन्त सुख भोगा, किन्तु वहाँ से भी गिरना होता, मरण करना पड़ता । तो मरण करके होंगे क्या ? नीचे ही पैदा होंगे स्वर्ग वाले जीव । और, कहाँ जायेंगे पैदा होकर । वे साधारण वनस्पति तो होते नहीं मरकर कि चलो वहीं स्वर्ग में ही रह जायें साधारण निगोद बनकर । जैसे कोई कहने लगते कि हम तुम्हारे नौकर बनकर ही रह जायेंगे, यहीं रहने दो । तो कोई जीव ऐसी प्रार्थना करे कि चलो हम स्वर्ग में रह जायें, चलो निगोद बन कर रह लें तो निगोद नहीं बनते हैं । और जो वहाँ बने हुए निगोद हैं उन्हें क्या आराम है ? देव लोग या तो बनेंगे ठाठ के एकेन्द्रिय जीव बिढ़या रत्न आदिक पृथ्वी प्रत्येकवनस्पति गुलाब के फूल या और और तरह के पेड़ों में प्रत्येकवनस्पति आदि या बनेंगे पञ्चेन्द्रिय । ये देव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय नहीं बनते मरकर । या तो बनेंगे मनुष्य या बनेंगे एकेन्द्रिय । तो ये चार प्रकार के जीव हैं, जिनमें श्रेष्ठता मनुष्य की है। इससे हम आपको कुछ विशेष चिन्तन करना चाहिए कि मनुष्य भव में आकर हमें ऐसी मनोवृत्ति बनाना चाहिए कि हम अपने उपयोग में गुण का ही ग्रहण करें, परमात्मस्वरूप की भक्ति करें, साधु संतों की भक्ति करें, धर्मात्मावों की संगति करें । प्रत्येक काम में हमारा उपयोग गुणग्राही बने । अपने शाश्वत गुणों की दृष्टि रखें । अपना कल्याण करना हो तो ऐसी आदत बनाना सर्वप्रथम आवश्यक है । ये असमानजाति द्रव्यपर्यायें हैं, चार प्रकार की गति की बातें हैं । इन सबमें परमार्थभूत तो जीवत्व है, जो परमार्थ है, वह सूक्ष्म है, अव्यवहार्य है, और जो कुछ व्यवहार्य है वह सब मायारूप है । इन सबको सही-सही श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है । सम्यक्त्व ध्यान का मुख्य अंग बताया है

## श्लोक-399

भ्रमान्ति नियतं जन्मकान्तारे कल्पषाशयाः ।

दुरन्तकर्मसम्पातप्रपञ्चवशवर्तिनः ॥३९९॥

**कलुषित आशय की जन्मवनपरिभ्रमण कारणता** – यहाँ पापाशययुक्त संसारी जीव इस जन्मरूपी बनमें दुष्कर्के समूह के प्रपंच के वश होकर निरन्तर भ्रमण कर रहे हैं । सबसे मुख्य पाप का आशय तो मिथ्यात्व है । वस्तुस्वरूप के अनुकूल ज्ञानप्रकाश न होना, इस अंधेरे में जो दुर्गति जीव की होती है वह समस्त दुर्गतियों में प्रथम नम्बर की दुर्गति है । भ्रम में इस जीव को अपने हित अहित की ओर दृष्टि नहीं रहती । पुण्य का उदय भी आये, सांसारिक समागम भी मिलें उस प्रसंग में भी यह हर्ष से क्षोभ मचाकर आकुलित रहता है । जैसे कोई स्वप्न में देखे हुए समागमों को सच्चा मानकर खुश हो रहा हो तो उसकी खुशी होने का क्या मूल्य है । इसी तरह इस भ्रम में रहकर इन विनाशीक सम्पदाओं के समागम का हर्ष मान रहा हो तो उसके इस हर्ष मानने का क्या मूल्य । लेकिन भ्रम मिथ्यात्व में जो खोये हुए प्राणी हैं उन्हें यह प्रकाश नहीं मिल पाता । जो कुछ यहाँ दृष्ट होता है उसे ही सार सर्वस्व समझने लगता है । और, इस मिथ्यात्व के वश होकर फिर यह जीव संसाररूप बन में निरन्तर भ्रमण करता है । कितनी तरह के जीवों के शरीर होते हैं, उनकी गिनती संख्या से बाहर है । लोक में जितनी बड़ी से बड़ी संख्या मानी जा सकती हो और किसी भी रूप से संख्या की कल्पना की जा सकती हो उससे भी अतीत है, अर्थात् गिनती से बाहर है । इतनी प्रकार के जीवों के शरीरभेद हैं । उन शरीरों में यह जीव जन्म लेता है और मरण करता है । जिस शरीर में पहुंचता है उसी को ही अपना एक नवीन उपभोग मानता है । इस तरह अब तक अनन्तकाल व्यतीत हो गया । इस अनन्तकाल में कैसे कैसे विषय भोगे, स्थान पाये, फिर भी जो जो मिला है इसे नया सा लगता है ।

**उच्छिष्ट भोगों के परिहार के बिना आत्मप्रगति की असंभवता** – जिन्हें अनन्त बार पा चुके वे ही पुद्गल अब मिले हैं लेकिन वे नये से लगते हैं । उन्हें पाकर यह मोही मानता कि मुझको तो अपूर्व चीज मिली है । इसी से ही अंदाजा लगा लो । जिसे जो भोजन प्रिय है मान लो किसी को चावल और अरहल की दाल प्रिय है । वह जब जब भी खावेगा तो उसे एकदम नया सा लगेगा । उसे एकदम अपूर्व स्वाद आ रहा है । कल खायेगा तो वह यह नहीं सोच सकता है कि यह तो कल जान चुके । जो स्वाद है वह तो समझ चुके । अब समझी हुई चीज जो कुछ मूल्य नहीं रखती इस तरह से वहाँ प्रवृत्ति नहीं बन पाती । कोई गणित का हिसाब है, पहिली बार किया तो उसे हल करने में रुचि रहती है । हल कर चुके, कई लोगों को बता चुके, सबमें फैल चुका अब उस गणित के हल करने के लिए कोई देवे तो उसमें क्या रुचि है । तो जिसको अनेक बार जाना हो उस बीज की उपेक्षा हो जाती है । इस तरह की उपेक्षा करके कोई दाल चावल खाता है क्या ? अजी इसे कल समझ लिया था, वैसा ही स्वाद है । तो जो उपभोग के

समागम मिलते उनमें ही यह मोही जीव अपूर्वता का अनुभव करता है । तो यों ही समझिये कि धन मिला घर मिला, समागम मिला उसे ही यह मोही जीव अपूर्व मान लेता है । इसी भ्रम के कारण संसार में चतुर्गति में भ्रमण करता है । यदि यह इन समागमों को यों निरखे कि ये तो अनन्त बार पाये, ऐसे वैभव, घर सम्पदा इज्जत प्रतिष्ठा ये तो अनेकों बार मिले और उससे कुछ सिद्धि न हो सकी, उनसे कुछ लाभ न मिला, उल्टा संसार में रुलते रहे । पर, जैसे कहते हैं ना कि पंचों की आज्ञा शिर माथे, पर पनाला तो यहीं से निकलेगा ऐसे ही इन शास्त्रों की बात शिरमाथे पर भीतर के उस अंधकार की बात वैसी ही रहेगी, उसमें कुछ फर्क न डालेंगे । सुन लेंगे सब, कुन्दकुन्दाचार्यदेव क्या कहते हैं, शुभचन्द्राचार्यदेव क्या कहते हैं, सबकी सुन रहे हैं पर जो घर मिला है यह ही तो हमारा ठाठ है, जो दो चार जीव घर उत्पन्न हुए हैं ये ही तो मेरे सब कुछ हैं, इनके अतिरिक्त सब गैर हैं, इस बुद्धि में अन्तर न देंगे । चाहे उन स्वजनों के कारण अनेक विपदायें पायी हैं और अनेक गालियाँ भी सुन लेते हैं लेकिन भ्रम की, बात जब तक दूर नहीं होती तब तक आत्मा में बल प्रकट नहीं होता जिससे शान्ति का अनुभव कर सकें । तो ये पापोदय वाले संसारी जीव दुर्निवार कर्मविपाक के वश होकर संसाररूपी बन में निरन्तर भ्रमण करते हैं ।

## श्लोक-400

किन्तु तिर्यग्गतावेव स्थावरा विकलेन्द्रियाः ।

असंज्ञिनश्च नान्यत्र प्रभवन्त्यङ्गिनः क्वचित् ॥४००॥

लोक स्थावरों से असीम पूरितता – संसारी जीव की गतियाँ ४ प्रकार की हैं, उन गतियों में सबसे कम जीव हैं मनुष्यगति में, उससे अधिक जीव हैं नरकगति में, उससे अधिक जीव हैं देवगति में और सबसे अधिक जीव हैं तिर्यश्चगति में । तिर्यश्चगति में भी ५ प्रकार के जीव हैं – एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ।

इनमें सबसे अधिक जीव हैं एकेन्द्रिय । एकेन्द्रिय में भी ५ भेद हैं – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति । इनमें भी सर्वाधिक जीव हैं वनस्पतिकाय में । वनस्पतिकाय के दो भेद हैं – प्रत्येकवनस्पति और साधारणवनस्पति । सबसे अधिक जीव हैं साधारणवनस्पति । साधारणवनस्पति में इतने जीव हैं कि जितने आज तक अनादि से सिद्ध होते आये हैं वे सब सिद्ध महाजरा उनके अनन्तवें भाग प्रमाण हैं और अबसे अनन्तकाल व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी भविष्य में जितने सिद्ध होंगे वे भी उस समय के रहे हुए साधारणवनस्पति जीवों के असंख्यातवें भाग प्रमाण रहेंगे । एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ये सब तिर्यश्च ही होते हैं, इनकी और गति नहीं होती । तो सारा लोक तिर्यश्चों

से भरा है । कभी-कभी कोई नास्तिक मनुष्य कहने लगते हैं कि अगर सभी त्यागी बन जायें, ब्रह्मचारी बन जायें तो फिर यह संसार कैसे चलेगा ? अरे संसार की पूर्ति मनुष्यों से नहीं होती, संसार की पूर्ति तो एकेन्द्रियों से हो रही है । मनुष्य हैं कितने ? और फिर मनुष्य ही क्या, यदि समस्त अनन्त जीव ब्रह्मचारी हो जायें और मुक्त हो जायें तो अच्छा ही हुआ । तुम्हें क्या फिकर पड़ गयी ? तो यह सारा संसार एकेन्द्रिय जीवों से भरा पड़ा है ।

## श्लोक-401

उपसंहारविस्तारधर्मा दृग्बोधलाञ्छनः ।

कर्ताभोक्ता स्वयं जीवस्तनुमात्रोऽप्यमूर्तिमान् ॥४०१॥

**जीवविस्तार की देहप्रमाणता** – यह जीव संकोच विस्तार धर्म को लिए हुए है इस कारण यह जीव जिस शरीर को ग्रहण करता है तब उस शरीर के प्रमाण हो जाता है । जैसे यहाँ जब बालक है छोटा तो शायद एक सवा फुट का होता होगा, और बढ़ते बढ़ते हो जाता है सवा पाँच फुट तो सवा पाँच फुट शरीर के आकार जीव के प्रदेश हो गए । सवा पाँच फुट के प्रमाण विस्तृत हो गया है । इतना बड़ा मनुष्य मरकर यदि चींटी के शरीर में उत्पन्न हो तो वहाँ शरीरग्रहण के स्थान में पहुँचते ही चींटी के बराबर जीव का आकार रह जाता है, और वही चींटी मरकर हाथी के शरीर में जन्म ले तो हाथी के शरीर के स्थान पर पहुँचकर वहाँ उसके प्रमाण शरीर हो जाता है । तो इसमें संकोच विस्तार का स्वभाव पड़ा है । इसके लिए दृष्टान्त यों दिया गया कि जैसे दिया का संकोच विस्तार का स्वभाव है । दीपक छोटे कमरे में रख दो तो उतने में उसका प्रकाश फैलेगा, एक डबला में रख दो तो उतने में प्रकाश फैलेगा, बड़े कमरे में रख दो तो उतने में प्रकाश जायेगा । ऐसे ही यह आत्मा जितने शरीर में पहुँचेगा उतने शरीर प्रमाण आत्मा फैल जायेगा । यह दृष्टान्त एक स्थूल दृष्टान्त है । वस्तुतः दीपक तो हर जगह जितना है उतना ही रहता है । दीपक का निमित्त पाकर जितने समक्ष वहाँ पदार्थ रहते हों वे पदार्थ अंधकार अवस्था को त्यागकर प्रकाश अवस्था में आते हैं । यह दीपक का प्रकाश विस्तृत हो; संकुचित हो यह बात नहीं है, दीपक तो जितना बड़ा है, जितनी लौ है वह उतने में ही प्रकाशमान है और वही उसका स्वरूप है । लेकिन यह दृष्टान्त लोक व्यवहार में रुढ़ है और उसका यह भेद का मर्म बड़ी कठिनता से जानने में आता है । इसलिए यह दृष्टान्त ठीक बैठता है कि जितनी जगह दीपक पाये उतने में प्रकाश फैले । ऐसे ही जितना शरीर पाये जीव उतने में ही फैल जाता है ।

**आत्मा की दृग्बोधलाञ्छनता** – यह आत्मा शुद्ध ज्ञान सहित है, स्वयं कर्ता है, स्वयं भोक्ता है और शरीरप्रमाण होकर भी यह अमूर्त है । आत्मा रूप रस गंध स्पर्श पिण्ड यह कुछ नहीं है । आकाशवत्

अमूर्त है । किन्तु, आकाश में जो आकाश का असाधारण लक्षण है वह उसमें है और आत्मा का जो असाधारण लक्षण है वह आत्मा में है । यों यह आत्मा अमूर्त है स्वयं अपने परिणमन का कर्ता है और स्वयं अपने परिणमन का भोक्ता है और संकोच विस्तार धर्म को लिए हुए है ।

यों असमानजातीय द्रव्यपर्याय का भी समाधान इस श्लोक में आया है और असाधारण लक्षण क्या है यह दर्शन ज्ञानमय है यह भी बताया है । और, कर्ता कैसे है भोक्ता कैसे है और कितना बड़ा है, जीव कैसा है, इन सब प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में कहा गया है । जितनी देर में इस आत्मा का ज्ञान किया जाता है और इस ज्ञान में जो कुछ जान लिया जाता है उसके वर्णन को घंटों चाहिए । किसी भी वस्तु के जानने में एक सेकेण्ड का भी विलम्ब नहीं लगता, आँखे खुली लो सारा सामने का दृश्य जानने में आ गया । कोई पूछे कि जरा बतावो तो सही कि इसे देखकर क्या जाना ? तो उसे बताने में बहुत विलम्ब लगेगा । यों ही आत्मा की यथार्थ झांकी यथार्थदर्शन आत्मा में क्षणमात्र में होता है । उसके बताने के लिए बहुत समय चाहिए । और सारी जिन्दगीभर बताते रहें तो इतना समय तक भी लग सकता है, किन्तु झलक तो क्षणमात्र में इस समग्र आत्मा की हो सकती है । ऐसे इस आत्मा में दर्शन ज्ञान का स्वभाव पाया जाता है ।

## श्लोक-402

तत्र जीवत्यजीवीच्च जीविष्यति सचेतनः ।

यस्मात्तस्माद्बुधैः प्रोक्तो जीवस्तत्त्वविदा वरैः ॥४०२॥

**शब्दव्युत्पत्ति से जीव का लक्षण** – उक्त ७ तत्त्वों में जीवतत्त्व की प्रमुखतया जानकारी करना कर्तव्य रहता है क्योंकि वह हम स्वयं हैं । स्वयं के बारे में कोई बात कहे तो लोग उसे बड़ी दिलचस्पी से सुनते हैं । किसी का नाम लेकर उसकी जरासी चर्चा छेड़ दो तो वह उठकर चल देने पर भी झट बैठ जाता है । तो जीवतत्त्व में अपनी ही तो चर्चा है, लेकिन मोह में तो ऐसा है कि पर की चर्चा में तो मन लगेगा और खुद की चर्चा चले तो वहाँ मन नहीं लगता । तो ये सब जीव उल्टा चल रहे हैं । व्यवहार में परिकल्पित अपनी चर्चा चलने लगे तो उसे सुनने में बड़ा मन लगता और वास्तविक अपनी चर्चा चलने लगे तो वहाँ मन नहीं लगता । तो उन ७ तत्त्वों में प्रथम तत्त्व जीवतत्त्व है, जिसका लक्षण – जो सचेतन है, जीता है, जीता था और जीवेगा उसे जीव कहते हैं । जहाँ व्यवहारदृष्टि से प्राणों करके जीवन को जीना चाहते हैं उस दृष्टि से यह जीव जीता था और जी रहा है, ये दो बातें तो सबमें सिद्ध होती हैं । और, जीवेगा यह बात संसारी जीवों में तो सिद्ध होती है किन्तु मुक्त जीवों में बात फिट नहीं बैठती । क्योंकि, वहाँ प्राण हैं ही नहीं । प्राणों से रहित केवल शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चेतना सम्पन्न है । तो वहाँ भूत प्रज्ञापननय की अपेक्षा से

जीवन माना गया है, वहाँ जीता था अब लगा लें । और, परमार्थ प्राण हैं ज्ञान दर्शन, उसकी दृष्टि से तो सभी जीवों में मुक्त हो अथवा संसारी त्रिकाल जीवन सिद्ध होता है । यों जो जीते थे, जी रहे हैं, जीते रहेंगे उन्हें जीव कहा करते हैं । यों जीव मूल में स्वरूपदृष्टि से सभी एक प्रकार के हैं लेकिन परिणमनभेद से और उपाधि के कारण हुए परिणमन भावों से ये नाना प्रकार के हो गए हैं ।

### श्लोक-403

एकोद्विधा त्रिधा जीवः चतुःसंक्रान्तिपञ्चमः ।

षट्कर्म सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो नवदशस्थितिः ॥४०३॥

**संसारी जीवों की नानाप्रकारता** – यहाँ जीव एक प्रकार का है । सब जीवों का स्वरूप एक समान है । सभी चित्स्वभावी हैं । स्वरूप दृष्टि से किसी जीव में भी अन्तर नहीं है । अब अन्तर का करने का निमित्तभूत उपाधि की दृष्टि से उनकी स्थितियों को देखो तो जीव दो प्रकार के हैं – एक मुक्त जीव, एक संसारी जीव । तो मुक्त जीवों में तो भेदविस्तार है नहीं, भेदविस्तार संसार में है । संसारी जीवों की दृष्टि से भेद करें तो जीव दो तरह के हैं – एक त्रस और एक स्थावर । जीव जिस प्रकार हैं, जिस प्रकार वर्तते हैं उनको निगाह में रखकर वर्णन किया जा रहा है, उन्हें किन्हीं शब्दों में कह लो, पर जो है भी उसका कथन जिन शास्त्रों में है । जीव तीन प्रकार के भी हैं उन सब भेदों को इस तरह से बना लीजिए कि उस तीन प्रकार में सब संसारी आ जायें । यह आपकी मर्जी है कि किस तरह भेद बना लो, छूटना न चाहिए कोई संसारी । तो संसारी जीव एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय यों तीन प्रकार के हैं । जीव चार प्रकार के भी किसी तरह से दिखाये जा सकते हैं – एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी । हाँ तो संख्या बन जाय और कोई छूटे नहीं इस दृष्टि से भेद बनाते जाइये । संसारी जीव ५ तरह के हैं – एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय । संसारी जीव ६ तरह के भी हैं । ५ स्थावर और एक त्रस । ७ भी हैं – ५ स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय । ८ तरह के भी हैं – ५ स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी । जैसा कह रहे हैं ऐसे ही प्रकार हैं ऐसा नियम नहीं है । आप अपनी रुचि से भी बना सकते हैं पर छूटे नहीं । कोई संसारी के यों भेद बनावे – ५ स्थावर, तीन और एक एकेन्द्रिय यों ९ भी हैं । संसारी जीव १० भी हैं — ५ स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी । यों कितने ही भेद बनाएँ । समस्त जीव असंख्यात प्रकार के होंगे । और भाव की दृष्टि से भेद बना लें तो अनन्त प्रकार के हो जायेंगे । इस प्रकार नानाप्रकार से जो जीव का फैलाव है वह सब एक अज्ञान से है, भ्रम से है, मोह से है, और इसी में यह जीव दुःखी होकर जन्म मरण किया करता है ।

## श्लोक-404

भव्याभव्यविकल्पोऽयं जीवराशिर्निसर्गजः ।

मतः पूर्वोऽपयवर्गीय जन्मपङ्काय चेतः ॥४०४॥

**संसारी जीवों में भव्य और अभव्य का भेद** – यह जीवराशी स्वभाव से ही भव्य हो या अभव्य हो इस प्रकार दो विकल्पों में विभाजित है । भव्य तो अपवर्ग के लिए माना गया है और अभव्य जन्म पंक के लिए माना गया है, अर्थात् भव्य जीव का तो मोक्ष होता है और अभव्य जीव का संसार में परिभ्रमण ही होता है । भव्य शब्द का अर्थ है जो होने योग्य हो सो भव्य और अभव्य का अर्थ है जो होने योग्य न हो सो अभव्य । इन शब्दों में मोक्ष और संसार की बात नहीं पड़ी हुई है, शब्द में तो एक संकेत है । मोक्ष पाने योग्य हो सो भव्य और मोक्ष पाने के योग्य न हो सो अभव्य । शुद्ध होने के योग्य हो उसे भव्य और शुद्ध होने के योग्य न हो उसे अभव्य कहते हैं । भव्य का नाम होनहार भी है । यह बड़ा होनहार पुरुष है । भव्य का अर्थ है होने योग्य । अच्छे आचरण से सफलता की बात जिनमें हो उन्हें भव्य कहते हैं । तो संसारी जीवों में भव्य तो अभव्यों से अनन्तगुने हैं । जितने अभव्य हैं उन से अनन्त गुने भव्य हैं । अनन्त भव्य हैं तो एक अभव्य है, यों समझिये । अभव्यों की संख्या बहुत कम है, इतने पर भी अभव्य अनन्त हैं । तो स्थूल दृष्टि से ऐसा देखने में आना चाहिए इससे एक हिम्मत तो होनी चाहिए कि हम लोग अभव्य नहीं हैं । फिर भव्य का क्या अर्थ है, क्या लक्षण है, ये सब आगे बताये जायेंगे, पर बहुत भी सन्तोष की बात करना हो तो इतना ध्यान ले लीजिए – जिनकी धर्म में रुचि होती है वे भव्य और जानने की विशेष उत्सुकता हो तो यों समझ लीजिए कि एक सहज ज्ञायकस्वरूप के अवलोकन की अधिक जिज्ञासा हो वह तो भव्य ही है ।

**क्षण भर की गलती में महाबंध की नौबत** – अहो, एक मिनट की गलती से यह जीव कहीं से कहीं पहुंचने का बंध कर सकता है । एक क्षण के मोह के परिणाम से यह जीव ७० कोड़ा कोड़ी सागर की स्थिति का मोहनीय कर्म बाँध लेता है । इतना बन्धन हुआ एक क्षण की गलती में । सागर का तो बहुत ही विशाल परिमाण है, असंख्याते वर्ष हैं और ऐसे ७० कोड़ा कोड़ी सागर हुए । आजकल नरकगति में नीचे यानी उत्कृष्ट स्थिति के नरक में न जा सके ऐसा तो है, पर उत्कृष्ट बन्ध के सम्बन्ध में निषेध नहीं है । उसका कारण यह है कि नरक गति में जाने योग्य तीव्र पाप कार्य और तीव्र चिन्तना किसी विशिष्ट संहनन वाले के हो पाती है, पर मोही की बात तो किसी भी संहनन का हो, तीव्र से तीव्र मोह कर सकता है । अन्य पापकार्यों के करने में जो शक्ति चाहिए पर मोह तो एक कायरता की बात है । उस में किसी भी संहनन वाले सभी जीव अधिक से अधिक मोह कर सकते हैं ।

**भव्यता का प्रकाश** – तो जो जीव अपने आपको मैं सदैव सम्हाले हुए रहूं ऐसा अपना परिणाम बनाता है उस जीव की भव्यता निकट है और जो स्वच्छन्द हो जाय, प्रमादी बन जाय उसका होनहार भला नहीं है

। अपना यह ध्यान होना चाहिए कि अब कितना सा जीवन रह गया । इस थोड़े से जीवन में हम अपने आपके सहजज्ञानस्वरूप को अपने उपयोग में न सम्हाल सकें तो ये रहे सहे थोड़े जीवन के दिन जल्दी ही व्यतीत हो जायेंगे । तब एक पछतावा भर रह जायेगा । अथवा पछतावा के लिए भी बुद्धि चाहिए । कहो इतनी भी बुद्धि न मिले कि पछता सके । ये कीट पतंगे स्थावर क्या पछताते हैं ? तो समझ लो भैया ! बड़ी जिम्मेदारी का यह जीवन है, पुण्य का कुछ ठाठ है, सारी बातें सरल सी लगती हैं, जैसा चाहे इन्द्रिय का विषय सेवन करें, जैसा चाहे दूसरों के प्रति व्यवहार करें, बल है, सामर्थ्य है, जो मन आये सो करे लेकिन यह स्वच्छता बहुत विडम्बना का कारण बनेगी । वर्तमान शक्ति के आधार पर इन व्यावहारिक उल्लङ्घनों के करने का फैसला न करें किन्तु मुझे एक शाश्वत शान्ति चाहिए, उसके प्रकरण में हमें अपना निजी कैसा वातावरण रखना है इस दृष्टि से निर्णय करना चाहिए । भव्य जीव मोक्ष के लिए बताया तो है, पर सभी भव्य मोक्ष चले जाते हों ऐसा तो नहीं हैं, अनन्तानन्त भव्य ऐसे हैं जो कभी मोक्ष न जा पायेंगे, लेकिन भव्यों में ऐसी शक्ति है कि वे इस योग्य परिणाम को व्यक्त करने की योग्यता रखते कि हमें जितने जीव दिखते हैं इनका कोई भाग ही नहीं कर सकता है कि हम किसको अभव्य कह दें । जब अनन्त जीवों में एक अभव्य है तो प्रायः अभव्य तो दिखते ही नहीं हैं । यह भी बड़े मर्म की बात है कि अभव्य को तो मोक्ष जाना ही नहीं है और वे भव्य भी जो कभी मोक्ष जायेंगे नहीं । किन्तु वे संसार में अनन्त काल तक रहेंगे और अनन्त काल तक भव्य भी चाहिए संसार में । लेकिन फिर भी उनमें भव्यता और अभव्यता का भेद पड़ा है जो ऐसा लगता है कि फोकट का भेद डाल दिया । काम तो दोनों का अर्थात् दूरातिदूर भव्य व अभव्य का एक है । फिर भी जो एक आन्तरिक योग्यता है उस दृष्टि का प्रकाश किया है ।

## श्लोक-405

सम्यग्ज्ञानादिरूपेण ये भविष्यन्ति जन्तवः।

प्राप्य द्रव्यादिसामाग्री ते भव्या मुनिभिर्मताः ॥४०५॥

**भव्यत्वगुण का परिपाक** – जो प्राणी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामाग्री को प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान आदिक रूप से परिणमंगे उन प्राणियों को आचार्यों ने भव्य कहा है । लक्षण में भव्यता के विपाक का उपाय भी बताया है । भव्यत्वगुण का पूर्णविपाक सिद्ध अवस्था में है । तो सम्यग्दर्शन होना, सम्यग्ज्ञान होना, सम्यक्कारित्र होना, गुणस्थानों में बढ़ना ये सब भव्यत्व के आंशिक विपाक हैं । जैसे कुछ भी चीज पकती है तो पक्व तो कहलाती है बिल्कुल अन्तिम समय में लेकिन क्या ऐसा है कि उस अन्तिम समय से पहिले पकता न हो वह पदार्थ और ठीक अन्तिम समय में पक जाता हो । पकना तो बहुत पहिले से शुरू होगा । तो यह भव्यत्व गुण पक रहा है, सम्यक्त्व हुआ सम्यक्ज्ञान हुआ, चारित्र हुआ चारित्र में वृद्धि

हुई यह गुणस्थान बढ़े यह सब भव्यत्वगुण का परिपाक है। तो जब योग्य द्रव्य, योग्य क्षेत्र, योग्य काल, योग्य भाव की सामाग्री मिलती है तब वहाँ यह जीव सम्यग्ज्ञानरूप से परिणमता है। बाह्य भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव योग्य मिले और आन्तरिक भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता बने वहाँ ये जीव सम्यग्ज्ञान आदिक रूप से परिणमते हैं। जो विशुद्ध आशय वाले हैं वे भव्य जीव हैं।

**भव्यत्वगुण की पारिणामिकता** – भव्यत्वगुण एक पारिणामिक भाव है। अर्थात् यह भव्यता न कर्मों के उदय से है, न उपशम से है, न क्षय से है, न क्षयोपशम से है, किन्तु है एक भाव। उदय आदिक की अपेक्षा न रखकर भव्यता हुई है इस कारण भव्यत्व को पारिणामिक भाव कहते हैं। यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि दर्शन मोहनीय का उपशम हो, क्षयोपशम हो, क्षय हो तो उससे ही तो भव्यता प्रकट होती है। फिर पारिणामिक कैसे कहा? उत्तर यह है कि उपशम, क्षय, क्षयोपशम से शुद्ध का विकास होता है शुद्ध होने की योग्यता शक्ति तो निरपेक्ष है। शुद्ध होना तो सामाग्री साध्य है, पर शुद्ध होने की ताकत जो वस्तु में पड़ी है वह सापेक्ष नहीं है, उसे उपशम आदिक की अपेक्षा नहीं पड़ती। जैसे कुरुडू मूँग में पकने की शक्ति है तो क्या यह शक्ति की आग की अपेक्षा रखकर बनी है? पकने में आग की अपेक्षा हो जायगी, पर पकने की शक्ति में अपेक्षा नहीं है। ऐसे ही भव्यत्व में कर्मों के उपशम आदिक की अपेक्षा नहीं है अतएव पारिणामिक भाव हैं। एक पारिणामिक भाव माना गया है सासादन गुणस्थान को। मिथ्यात्व गुणस्थान तो मिथ्यात्व के उदय से हुआ। तीसरा सम्यक्मिथ्यात्वगुणस्थान, सम्यक्मिथ्यात्व की प्रकृति के उदय से हुआ, चौथे पाँचवे आदि कोई क्षय से कोई क्षयोपशम से यों होते हैं, पर दूसरे गुणस्थान की स्थिति ऐसी है कि न तो वहाँ सम्यक्त्व है और न वहाँ मिथ्यात्व है। ऐसी स्थिति जो बनी, यद्यपि उदयादिक की अपेक्षा बिना नहीं बनी किन्तु एक दर्शन मोह का निमित्त लगाकर दूसरे गुणस्थान का वर्णन किया जायगा। तो दूसरे गुणस्थान को न औदयिक कहेंगे, न औपशमिक कहेंगे, न क्षायिक, न क्षायोपशमिक कहेंगे। वह केवल दर्शन मोह की दृष्टि से पारिणामिक है, लेकिन भव्यत्वगुण कर्मों की दृष्टि से पारिणामिक है।

## श्लोक-406

अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम् ।

यस्माज्जन्मशतेनाऽपि नात्मतत्त्वं पृथग्भवेत् ॥४०६॥

**अभव्यत्व** – अब अभव्यता अंधपाषाण की तरह है। जैसे सोने की खान में अनेक खण्ड निकलते हैं। छोटे-छोटे अंश, जिन्हें स्वर्णपाषाण कहते हैं। उनमें से एक स्वर्ण का अंधपाषाण भी होता है, जो नाम तो स्वर्ण का है परन्तु कभी भी वह शुद्ध सोनेरूप नहीं हो सकता। यह दृष्टान्त खैर समझने में कठिन होगा,

पर एक कुरुडू मूँग होती है, उसका दृष्टान्त ले लीजिये । उसे यदि दिन भर भी बटलोही में खूब पकाया जाय तो भी वह मूँग नहीं पकती है । कोई-कोई उस मूँग का दाना वैसा ही बिल्कुल कंकड़ की तरह निकल आता है । तो जैसे कुरुडू - मूँग का दाना बहुत बहुत पकने पर भी वैसा का ही वैसा निकल आता है ऐसे ही इन जीवों में से जो जीव अभव्य हैं वे नाम के तो जीव हैं पर उनको जीवत्वगुण का जिसे शुद्ध विकास कहते हैं केवल ज्ञानमात्र होना, यह उनके कभी भी नहीं हो सकता । सैंकड़ों जन्म भी तपश्चरण करें, कुछ भी करें तो भी उनके आत्मतत्त्व प्रकट नहीं हो सकता, तो शरीर कर्म और विभाव इन विडम्बनाओं से पृथक नहीं हो सकते । जो शुद्ध होने के योग्य नहीं हैं उन्हें अभव्य कहते हैं ।

**अभव्य के सीझने की अशक्यता** - अभव्य जीव धर्म के नाम पर अपनी कल्पनाओं के अनुसार कुछ भी करता है, पर जिसे परमार्थधर्म कहते हैं उसकी रुचि नहीं होती है । जैसे धर्म के नाम पर अनेक पुरुषों को किसी को पूजा की रुचि है, किसी को स्वाध्याय की रुचि है, पर उनमें से किसे कहें कि वास्तविक परमार्थभूत धर्म की रुचि इस इसको है । विवरण में ऐसा कहते हैं कि करोड़ों जन्म तप करने से जितने कर्मों की निर्जरा अभव्य करता है उतने कर्मों की निर्जरा ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्त में कर लेता है । यह दृष्टान्त केवल एक कर्मवर्गणाओं की गिनती का अनुमान कराने के लिए हैं । अभव्य के तो कभी भी निर्जरा नहीं होती, फिर यह कैसे कहा जाय कि जो निर्जरा अभव्य के करोड़ों वर्ष तक करके होती है वह ज्ञानी के अन्तर्मुहूर्त में होती है, इसमें उस गिनती का अनुमान बताया है कि इतने कर्मों का निर्जरण भव्य के क्षणमात्र में होता है । अभव्य के निर्जरा नहीं है । अपने आपके सहज अन्तस्तत्त्व को शरीर से, विभावों से, विकल्पों से विविक्त निरख ले ऐसी दृष्टि जिसके हो वह निकट भव्य जीव है । ये सब दृश्यमान जीव जिनकी दृष्टि में भव्यस्वरूप है, इस लोक के किसी भी जीव की चेष्टा से मेरा हित अहित नहीं है यों अपने आपकी वृत्ति का, अपने आपके भवितव्य का अपने आपसे ही निर्णय रखना है, ऐसी विरक्तता, ऐसा वस्तुस्वरूप का सम्यग्ज्ञान जिसमें हो वह निकट भव्य जीव है ।

**गुप्त हित को गुप्त करके गुप्त रहने का अनुरोध** - हम लोगों को अपने आपमें गुप्त होकर गुप्त विधि से इस गुप्त को, इस कल्याण को अपने आपमें करना है । देखिये - गुप्त शब्द का अर्थ छिपा हुआ नहीं है, जैसे व्यवहार में गुप्त कहते हैं छुपे हुए को, यह चीज गुप्त है, छिपी हुई है । रूढ़ि में गुप्त का अर्थ छुपा हुआ कहते हैं पर गुप्त का सही अर्थ छुपा हुआ नहीं है किन्तु पूर्ण सुरक्षित है । पूर्ण सुरक्षित वही हो सकता है जो छुपा हुआ है । प्रकट हुए को जो चाहे बिगाड़ दे । जैसे कोई कीमती चीज दे और कहे देखो उसे सुरक्षित रखना तो आप क्या करेंगे ? तिजोरी में अल्मारी में बड़े अच्छे ढंग से आप छुपा देंगे, लो सुरक्षित हो गयी । और, ज्यादा सुरक्षित करना हो तो लो कमरे में जमीन खोदकर गाड़ दिया, लो सुरक्षित हो गया । तो छुपा हुआ पदार्थ सुरक्षित रहता है । इस मान्यता के कारण गुप्त का अर्थ लोक में छुपा हुआ प्रसिद्ध हो गया । गुप्त को सुरक्षित कहने की किसी की दृष्टि नहीं जगती । गुप्त मायने सुरक्षित । तो अपने आपमें गुप्त होकर अर्थात् सम्हलकर सुरक्षित होकर उस गुप्त कल्याण को याने जिसे कोई बिगाड़ न सके, किसी का प्रवेश ही नहीं है ऐसे सुरक्षित कल्याण को अपने आपमें गुप्त करके रखना है, सम्हल करके रखना है, सुरक्षित बनाना है ।

**कर्तव्य का ध्यान** – देखो भैया ! आत्महित करने के लिए कितना सीधा सुहावना सुगम हितकारी आनन्ददायक ज्ञातृत्व का काम पड़ा हुआ है किन्तु एक मोह की दृष्टि उठी कि ये सारे कल्याण के कार्यक्रम सब समाप्त हो जाते हैं । मोह की दृष्टि क्षणमात्र भी उठे तो कितना अनर्थ कर देती है, लम्बे समय तक विकल्पों में बहाये रहती है । एक किशोर अवस्था का ही तो मोह था, पाणिग्रहण हुआ कि उसके फल में जिन्दगी भर कितना परतंत्र सा रहना पड़ता है अनेक दृष्टांतों में । एक मोटा दृष्टान्त दिया है कि थोड़े से मोह को न सम्हाल सकने के कारण सारे जीवन को अपनी विडम्बना का शिकार बनाना पड़ता है । तो क्षण भर के मोह में यह सारी संसार सृष्टि की परम्परा बना डालते हैं हम आप लोग । जो चीज अहित रूप है वह हितरूप जँचे और जो चीज हितरूप है वह अहितरूप जँचे ऐसी दृष्टिरूप बिगाड़ जिस जीव के होता है उसका परिणाम तो संसार में भटकता ही है । हमें चाहिए कि हम अपने आपको सम्हालकर रखने का अधिकाधिक यत्न करें । सत्संगति, स्वाध्याय, गुणप्रेम इन सब गुणों से अपने आपको प्रसन्न निर्मल बनायें ।

## श्लोक-407

अभव्यानां स्वभावेन सर्वदा जन्मसंक्रमः ।

भव्यानां भाविनी मुक्तिर्निःशेषदुरितक्षयात् ॥४०७॥

**अभव्यों का प्रकृत्या जन्मसंक्रमण** – अभव्य जीवों को स्वभाव से ही सदा काल संसार में जन्म मरण करते रहना है । और भव्य जीवों को समस्त कर्मों के क्षय होने से भावी काल में मुक्ति हो सकती है । यह भव्य का स्वभाव और अभव्य का स्वभाव कहा है । भव्यत्व का एक पारिणामिक भाव है और अभव्यत्व का भी पारिणामिक भाव है । होनी जिसे कहते हैं वह होनी किसी भी विधि से हो, पर होनी के नाम से होनी सामान्य में कोई अपेक्षा नहीं बतायी जा सकती है । जैसे लोग सीधे मिजाज में यों कह देते कि भाई होना था ऐसा हो गया, होनी में अपेक्षा नहीं लगाई जाती है । यद्यपि जो होना है वह अपेक्षा से होता है, पर्याय तो जिस विधि से होती है होती है । उसमें बतावो निमित्त, सब उस योग्य उस प्रकार होता है, पर जो होनी है सामान्य है, भव्यता है, उसमें अपेक्षा नहीं होती केवल होनी की दृष्टि में जब मान्य रहता है, होनी के स्वरूप का दिमाग रखता है उस सम्बन्ध में वह अपेक्षा में अपनी उल्लङ्घन नहीं रखता । ऐसा होना था सो हो गया । यह बात भव्यत्व और अभव्यत्व के सम्बन्ध में है । यद्यपि अभव्य में जो काम होता है मोह होना, रागद्वेष होना यह सब उपादेय निमित्त के योग से चलता है लेकिन अभव्यत्व का जब दिमाग हो, अभव्य की दृष्टि बने तो उस अभव्यता के लिए भी अपेक्षा नहीं लगायी जा सकती और ऐसी अभव्यता के लिए, क्या अभव्य का जीव का जन्म संक्रमण नहीं हो रहा ? हो रहा, वे नये नये जन्म पाते

जाते हैं और भव्य जीवों में समस्त कर्मों के विनाश से मुक्तिभाविनी बतायी गई है ।

**भव्यता की अधिकता** – प्रथम तो सन्तोष की यह बात है कि जगत में अभव्य से अनंत गुणे भव्य हैं पर अभव्य भी अनन्त हैं और जिनको आत्मकल्याण में रुचि जगी है उनके तो भव्यत्व नियम से है । अब किसे बता रहे कि हमें आत्मकल्याण में रुचि जगी है वह अपना दिल बतावेंगे कि क्या सचमुच में यह श्रद्धा दृढ़ हो गयी है कि बाह्य पदार्थों से इस आत्मा का भला नहीं है । किसी भी क्षण ऐसी बात जमी हो और पर की उपेक्षा करके अपने आपके निकट रहकर अटपट आनन्द जगा हो उसे तो आत्मकल्याण की रुचि कहा ही है । चाहे बाह्य परिस्थितियाँ ऐसी हों कि जिनकी उल्लङ्घन बनी रहती है, उपयोग भी भ्रमता है, किन्तु किसी भी क्षण आत्मविश्राम मिला हो तो समझिये कि आत्मकल्याण की मेरे अवश्य रुचि है ।

**तीव्र प्रवृत्ति में भी सम्यक्त्व की संभवता** – अप्रत्याख्यानावरण कषाय प्रवृत्ति में ऐसी भी होती है जिसमें ऐसी भी अद्भुत क्रिया हो जाती है कि जिसे लोग बड़ी मूढ़ता भरी चेष्टा समझें और वह ६ माह तक रह सकता है, उसका संस्कार ६ माह से अधिक नहीं चलता है, किन्तु अनंतानुबंधी कषाय का संस्कार वर्षों क्या कई भवों तक चलता रहता है । एक यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण के मृतक शरीर को लिए ६ माह तक विह्वल रहे और इस प्रसंग में भी श्री रामचन्द्र जी को सम्यग्दृष्टि समझा है । तो अब इसमें दो तीन बातों पर अद्भुत प्रकाश आता है एक तो अप्रत्याख्यानावरण कषाय के तीव्र उदय में ऐसी चेष्टा बन जाती है कि जिसे महामूढ़ भी न करे । दूसरी बात परिस्थितियोंवश ऐसी बात बनकर भी यह सम्भव है कि अन्तः प्रत्यय श्रद्धान मेरा सही भी हो । इसकी थाह को हर एक कोई पा नहीं सकता । तीसरी बात यह मिली कि ६ महीनों से अधिक यदि ऐसे संस्कार और चेष्टाओं का प्रवर्तन रहे तो वहाँ सम्यक्त्व नहीं माना जा सकता है । ६ माह तक ही कुवर्तन तो मान लिया जायेगा, सो भी सबका नहीं माना जा सकता । यों तो एक दिन भी कोई मोह करे तब भी सम्यक्त्व नहीं है, ६ माह तक अप्रत्याख्यानावरण की चेष्टा रह सकती है सम्यक्त्व के प्रसंग में । अनन्तानुबंधी का काल है अनेक भव, अप्रत्याख्यानावरणी का काल है ६ महीनों तक, प्रत्याख्यान का काल है एक पक्ष तक और संज्वलन का काल है अन्तर्मुहूर्त तक । इससे अधिक इन कषायों का संस्कार नहीं चलता ।

**साधुओं के क्रोध की फलरेखाममता** – कभी कभी साधुओं के भी ऐसा क्रोध जगेगा कि देखने वाले यही सोचेंगे कि यह तो तीव्र क्रोध रहे हैं ये काहे के साधु । किसी शिष्य को दण्ड विधान सुनायें – देखो तुमको यह करना होगा । ऐसा यदि कोई श्रावक देख लें तो वह कल्पनायें कर सकता है कि यह तो तीव्र क्रोध करते हैं, पर कैसा ही जँचे – संज्वलन कषाय का संस्कार अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता । कभी किसी पर वैसे ही क्रोध आ जाय तो जैसे जल में रेखा खींच देने के बाद तुरन्त मिट जाती है ऐसे ही उनके कभी कषाय जगे तो शीघ्र ही शान्त हो जाती है । जैसे दुकान में ऐसा भी हो सकता है ना कि कुछ आय नहीं हो रही, कुछ काम नहीं जम रहा, कुछ नुकसान भी हो रहा और कहो दो चार दिन में ही जो आय सोची जा सकती हो वह हो जाय । बड़े-बड़े काम बिगड़ जाते, किसी एक काम में ही समस्त बिगाड़ की बात निकल आती है और कोई व्यापार होते भी इसी ढंग के हैं कि रोज कुछ आय न हो और कभी २-४ दिन में ही सारी आय हो जाती है । तो यह भी एक बहुत विचित्र परिणामन है कि ऊपर से अनेक

आकुलताएँ जँचती, सन्ताप होते, व्यग्र भी होते और कहो उसने कभी सहज आत्मतत्त्व का अनुभव किया हो तो अन्तः गुप्त समझिये ऐसी शान्ति और निराकुलता रहती है कि जिसके प्रताप से किसी भी दिन, किसी भी क्षण वह आत्मसमृद्धि पा लेगा । लेकिन इन वर्णनों से हमें ऐसे प्रमाद की ओर नहीं जाना है कि सम्यक्त्व का तो बड़ा प्रताप है । इतना राग करने पर भी चिन्ताएँ करने पर भी सम्यक्त्व रहता है और वह कर्मनिर्जरा कर देता है ऐसा सोचना न चाहिए । यह तो स्वरूप बताया जा रहा है । अपने लिए तो यह सोचना चाहिए कि यदि क्षणमात्र भी प्रमाद करें तो बड़ी कठिनाई से पाया हुआ सम्यक्त्व भी नष्ट हो सकता है । ऐसा समझकर सावधान रहना चाहिए ।

## श्लोक-408

यथा धातोर्मलैः सार्धं सम्बन्धोऽनादिसम्भवः ।

तथा कर्ममलैर्ज्ञेयः संश्लेषोऽनादिदेहिनाम् ॥४०८॥

धातु का मल के साथ समान देहियों का कर्ममल के साथ अनादि से संश्लेष – जैसे धातु का मल के साथ अनादि से सम्बन्ध है इसी तरह देही का कर्ममल के साथ अनादिकाल से संश्लेष है । ताँबा, सोना, चाँदी ये धातुवें ऐसी खानों से बनायी जाती हैं कि जो देखने में चाँदी, सोना, ताँबा जैसी न लगें, लोहा जैसी न लगें, एक मिट्टी सोना लगती है । पारखी परख लेते हैं और जानते हैं कि इस मिट्टी में सोना है, कोई मन भर मिट्टी में एक दो मासा सोना निकालता होगा पर उस पूरी मिट्टी में वह स्वर्णत्व मौजूद है । तो जैसे उस स्वर्णत्व में किट्टकालिमा मिट्टी का सम्बन्ध शुरू से है, ऐसा तो न था कि पहिले स्वर्णत्व बिल्कुल शुद्धरूप में था और पीछे यह मिट्टी बना, किन्तु शुरू से ऐसे ही यह मिट्टी है । इसको साफ किया जाता है विधिपूर्वक तो उनमें से स्वर्णत्व प्रकट होता है । तो जैसे धातु का मल का सम्बन्ध प्रारम्भ से है, उपायों के द्वारा वह मल दूर हो जाता है और शुद्ध धातु प्रकट होती है ऐसे ही जीव का कर्ममल के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध है, लेकिन आत्मदर्शन, आत्मध्यान आत्मा को ही शरण मानकर अपने उपयोग को इस भगवान आत्मा को ही समर्पित कर देना इन सब उपायों से कर्ममल दूर हो जाते हैं और कैवल्य प्रकट हो जाता है । इस काम के लिए बड़ी तीव्र धुन चाहिए । ऐसी धुन हो कि जिस धुन में रमने वाले पुरुष को बाह्य लोगों के प्रवर्तन से क्षोभ न उत्पन्न हो और कहीं बाह्य पदार्थों में अपने हित अहित की धारणा हो । एक अपनी अन्तः धुन में लगा रहे, कैवल्यस्वरूप की भावना बनाये रहे, केवल ज्ञानपुञ्ज हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, आकाशवत् निर्लेप हूँ, इस मुझको पहिचानने वाला कौन है ? यह मैं स्वयं परिपूर्ण हूँ, अधूरा नहीं हूँ, स्वतः सिद्ध हूँ और अमर हूँ । ऐसी दृष्टि न होने से इस जीव को शान्तिलाभ होता है, चाहे बाह्य में इसके बहुत उपद्रव रहते हों ।

**अध्यात्मदर्शन से विह्वलता का विनाश** – अध्यात्म दिशा और व्यवहार दिशा में बहुत अन्तर वाली परिस्थितियाँ होती हैं। बड़ी-बड़ी अवस्थाएँ बनायें तो सही, लेकिन किन्हीं बातों में सफल असफल होने से या जैसी व्यवस्था चाहते हैं वैसी व्यवस्था न बनने से अन्तरङ्ग में विह्वल न होना चाहिए और वह विह्वलता न हो इसका उपाय है अध्यात्मदर्शन। जैसे एक देश के सम्बन्ध में चिन्ताएँ चलती हैं, किसी अन्य का इस पर शासन न हो, देश स्वतंत्र रहे, अपने देश का विस्तार गौरव चाहते हैं, व्यवहारदृष्टि में ये सब बातें युक्त हैं और ऐसा देखने के लिए यह मनुष्य लालायित रहता है, किन्तु कुछ अध्यात्म में चलकर अपना अनुभव करे, उसके बाद फिर तो ऐसा जंचेगा कि क्या परतत्त्वों के लिए कल्पनाएँ की ? क्या मेरा है यहाँ ? न मेरा देश है, न मेरी जाति है, न कुल है, न देह है, न परिवार है, न वैभव है और आज जिसे हम विदेश समझते हैं मरकर वहीं जन्म लें तब फिर इस देश को विदेश समझने लगेंगे। तो दोनों की दिशाएँ जुदी-जुदी हैं, और फिर किसी कर्मयोगी पुरुष में इन दोनों दिशाओं का भी अपनी-अपनी सीमा में मिश्रण रहता है।

**मूल आशय में बिगाड़ न आने देने का संधारणा** – भैया ! हो कुछ भी किन्तु अपने मूल आशय में बिगाड़ न आना चाहिए। यह जगत मायारूप है, इसमें मेरा स्वरूप न्यारा है, मैं आकाशवत् निर्लेप चैतन्यमात्र हूँ, ऐसी प्रतीति में बाधा न आये और ऐसे निर्णय में फर्क न आये तो जीवन हितकारी है। सब भ्रम का ही खेल है। भ्रम में ही रहकर यथा तथा विषयसाधनों में रमकर जिन्दगी व्यतीत किया, मरकर फिर कहीं जन्म लिया। ऐसा ही जन्म संस्करण अज्ञानी जीवों के रहा करता है। यह सब उपाधि के सम्बन्ध से हो रहा है। और यह उपाधि अनादि परम्परा से लगी है। ध्यान का वर्णन करने वाले इस ग्रन्थ में ध्यान के मुख्य अङ्गों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्वारित्र कहा है, उसमें से सम्यग्दर्शन का यह वर्णन है। तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान् करना सम्यग्दर्शन है। तो माया तत्त्व और कैसे विभाव बना, क्या स्वभाव है, इन सबका निर्णय हो तभी वहाँ समीचीन आशय बन सकता है। तो कर्ममल का सम्बन्ध अनादिकाल से है। तो क्या यह छूट नहीं सकता ? इसके उत्तर में अगला श्लोक कह रहे हैं।

## श्लोक-409

द्वयोरनादिसम्बन्धः सान्तः पर्यन्तवजितः ।

वस्तुस्वभावतो ज्ञेय भव्याभक्ष्याङ्गो क्रमात् ॥४०९॥

**भव्य अभव्य का कालकृत अन्तर** – कहते हैं कि भव्य जीव और अभक्ष्य जीव दोनों के ही संसार अनादिकाल से लगा है लेकिन भविष्य में अन्तर है। भव्य का संसार अन्तसहित हो सकता है और

अभव्य का अन्तरहित ही होता है । अभव्य के अनादि से संसार है और अनन्तकाल तक रहेगा और भव्य जीव के संसार अनादि से है, कहीं ऐसा नहीं है, कि पहिले शुद्ध जीव हो और फिर उपाधि लगी हो, भव्य का भी संसार अनादि से है किन्तु उपायों से इसके संसार का अन्त हो सकता है ।

## श्लोक-410

चतुर्दशसमासेषु मार्गणासु गुणेषु च ।

ज्ञात्वा संसारिणो जीवाः श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिभिः ॥४१०॥

नाना पर्यायों में रहकर भी जीव की एकत्वनिश्चयगतता – सम्यग्दर्शन के प्रकरण में जीवादिक ७ तत्त्वों का वर्णन चल रहा है उसमें जीवतत्त्व के वर्णन का यह अन्तिम श्लोक है । कहते हैं कि जीवतत्त्व को १४ जीव समासों में १४ मार्गणावों में, १४ गुणस्थानों में शुद्ध नय से जान लेना चाहिए । १४ जीव समासों का कितना विस्तार है, कितनी तरह के जीव शरीर उनकी पर्याप्त अपर्याप्त दशा, गुणकृतभेद, शरीरकृत भेद इन सब नाना रूपों में यह जीव रह रहा है और नाना रूप बन रहा है । फिर भी उन नाना रूपों में मूलतत्त्व तो एक समान है इतने विचित्र परिणमन होकर भी इन सब जीवों में जीवत्वभाव पूर्ण समान है और उस दृष्टि से भव्य और अभव्य का भी भेद नहीं है । वह जीव की विशेषता बन गयी, स्वरूप नहीं बना । जीव का स्वरूप भव्य होना या अभव्य होना नहीं है किन्तु एक ज्ञायक स्वभाव है । यह जीव १४ जीव समासों में रहकर अपने एकत्व स्वभाव को नहीं छोड़ता । जैसे बहुत से मूँग के दानों में रहकर भी कुरुडू मूँग पकायी जाने पर भी अपनी आदत को नहीं छोड़ते, जैसे बहुत बड़े कंकड़ों के बीच रहकर भी हीरा मणि आदिक अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, अथवा अनेक परिणमनों में परिणमकर भी कोई भी पदार्थ मिट्टी आदिक अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ते, ऐसे ही समझिये कि अनेक जीवसमासों में अनेक प्रकार के आकारों में अनेक वासनाओं में रहकर भी जीव अपने मूलस्वरूप को नहीं छोड़ता ।

नवतत्त्वगत होने पर भी जीव की एकत्वनिश्चयगतता – नाना पर्यायों में रहकर भी जीव अपना एकत्व नहीं छोड़ता, यह तो एक मोटी पर्याय में दिखाया है, पर ९ तत्त्व जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप – इन ९ तत्त्वोंरूप परिणमकर भी इन ९ तत्त्वों के बीच में भी यह जीव अपने एकत्वस्वरूप को नहीं छोड़ता । जैसे कोई जीव आत्मा को मानते हैं कोई जीव आत्मा को मना करते हैं, आत्मा कुछ नहीं है यह भी तो एक जानकारी है ना ? यह जानकारी जिसने की वह तो कुछ है ? आत्मा का मना कैसे हो सकता है । जो आत्मा को मना करेगा वह भी आत्मा है और जो आत्मा की सिद्धि करेगा वह भी आत्मा है । शुद्ध पर्यायों में भी प्रवर्तने वाला आत्मा है । आत्मा का जो स्वरूप है वह आत्मा में सतत रहता है अन्यथा निगोद, नारकी, कीड़ा कैसी कैसी पर्यायों में एकता की, लेकिन अब तक

हम आप जीव ही हैं, अजीव नहीं बने । तो संसारी जीवों के बहुत से भेद हैं, उन भेदों में जीव को जानना चाहिए और साथ ही शुद्ध दृष्टि लगाकर अपने ही अस्तित्व के कारण जो स्वरूप है उस स्वरूप में जीवतत्त्व को निरखना चाहिए ।

## श्लोक-411

धर्माधर्मनभःकालाः पुद्गलैः सहयोगिभिः ।

द्रव्याणि षट्प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥४११॥

**द्रव्यों में जीव और पुद्गल द्रव्यों का अस्तित्व** – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये ६ द्रव्य योगीश्वरों ने प्ररूपित किये हैं । द्रव्य तो ६ नहीं हैं, अनन्त हैं, किन्तु उन समस्त अनन्त द्रव्यों की जातियाँ जिनका कोई साधारण लक्षण अपनी सब जातियों में रहे और अपनी जाति से विरोधी अन्य जाति में न रहे उस असाधारण लक्षण के बल से द्रव्यों में ६ जातियाँ बताई गई हैं । जैसे जीव कहा तो जीव का जो लक्षण है वह जीवत्व सब जीवों में है । कोई जीव इस जीवत्व से शेष रह जाय ऐसा नहीं है और साथ ही जीव को छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं रहता है जीवत्व । लक्षण से जातियाँ बनती हैं । जो अपने समस्त लक्ष्य में रहे और लक्ष्य के अतिरिक्त अलक्ष्य में न रहे वही लक्षण निर्दोष होता है । जीवत्व सब जीवों में है और जीव को छोड़कर अन्य में नहीं है तो जीवत्व लक्षण सही हो गया । तो एक जीव जाति कहलाई । इसी प्रकार पुद्गल अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श से वाला होना यह स्वभाव पुद्गल में है । कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है जो रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित हो । परमाणुओं में भी रूप, रस, गंध, स्पर्श न हों तो उनका सत्त्व नहीं बन सकता और परमाणुओं के पिण्ड से फिर जो रूपादिक व्यक्त प्रतीत होने लगते हैं यह भी न बनेगा । तो पुद्गल का स्वरूप मूर्तपन समस्त पुद्गल में है और पुद्गल के सिवाय अन्य किसी पदार्थ में नहीं है । पुद्गल एक जाति हो गए ।

**धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्य का अस्तित्व** – धर्मद्रव्य गतिहेतु है, अधर्मद्रव्य स्थितिहेतु है, आकाश इनकी जाति भी एक है और व्यक्ति भी एक है, ये एक एक ही द्रव्य हैं, कालद्रव्य असंख्यात हैं । जिस प्रदेश पर जो कालाणु हैं उस कालाणु पर ठहरे हुए पदार्थों के परिणमन में वे कालाणु निमित्त हैं । यदि कोई अनेक प्रदेशी पदार्थ ठहरा हो तो जितने में वह विस्तृत है उतने में असंख्यात कालद्रव्य भी पड़े हैं । एक आकाशद्रव्य इतना व्यापक है कि आकाश के बहुत कम हिस्से में कालद्रव्य हैं और बाकी असीम अनन्त जो काल है उस जगह कहाँ कालद्रव्य है लेकिन लोकाकाश में स्थित कालद्रव्य के निमित्त से यह आकाश परिणत हो रहा है । आकाश कहीं खण्डरूप नहीं है कि जहाँ समस्त द्रव्य हों वह तो लोकाकाश है और जहाँ केवल आकाश ही हो वह अलोकाकाश है । परिणमनों में जो अत्यन्त विभिन्नता देखी जाती है उसका कारण सामान्यतया यह भी है कि कालद्रव्य असंख्यात है और अपने अपने काल प्रदेशोंपर

अवस्थित पदार्थों के परिणमन में वहाँ भी कालद्रव्य निमित्त है । तो काल असंख्यात हैं, इस प्रकार अनन्त पदार्थों के वे प्रकार योगीश्वरों ने कहे हैं । ध्यान के ग्रन्थ में ध्यान का निरूपण है । पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थों को किस रूप में श्रद्धान करते हैं उसे बताने के लिए यह सब पदार्थों की चर्चा चल रही है ।

## श्लोक-412

तत्र जीवादयः पञ्च प्रदेशप्रचयात्मकाः ।

कायाः कालं विना ज्ञेया भिन्नप्रकृतयोऽप्यमी ॥४१२॥

द्रव्यों के स्वभाव की अहेतुकता – उन छहों द्रव्यों में से एक कालद्रव्य को छोड़कर बाकी जीवादिक ५ पदार्थ ५ द्रव्य अनेक प्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय हैं और कालाणु केवल एकप्रदेशी ही है उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है । कोई अस्तिकाय है, कोई नहीं है, कोई असंख्यातप्रदेशी है, कोई अनन्तप्रदेशी है । इस प्रकार का जो कुछ भी विभिन्न स्वरूप है वह सब पदार्थों के स्वभाव से जाना । कोई ऐसा तर्क करने लगे कि पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श ही क्यों होते हैं, इसमें जीवत्व क्यों नहीं होता, ये नीम की पत्ती कड़ुवी क्यों होती, ये पालक की तरह मीठे क्यों नहीं हो गए ? कोई हेतु बतावो ? क्या युक्ति दें ? प्रकृति कारण है । प्रकृति से ही नीम के पत्ते कड़ुवे हुए । उसमें अब और कारण क्या लादा जाय ? और कुछ कारण कहेंगे तो यह फिट तो नहीं बैठता । अटपट कोई कुछ कह दे । नीम का बीज कड़ुवा है उससे पत्ते कड़ुवे हो गए । अच्छा नीम के बीज कड़ुवे क्यों हो गए ? इसमें युक्ति दो । तो प्रकृति की जो चीज हैं उनका प्रकृति ही उत्तर है । जीव में चैतन्य क्यों हुआ ? ऐसी किसी ने सृष्टि की है क्या ? कोई लोकसभा हुई थी क्या, उसमें विचार चला था क्या, कोई प्रोग्राम बना था क्या कि देखो अपने को कुछ पदार्थ बनाने हैं ? उनकी राय हुई हो, कोई ढंग बना हो ऐसा तो नहीं है । पदार्थ है अनादि से है और है इसी से यह सिद्ध है कि जैसा है सो है । जिसका जो स्वभाव है वह है । यहाँ हम मनुष्यों में तो पूछ सकते हैं कि इस मनुष्य में यह आदत क्यों बन गई, क्योंकि मनुष्य में आदत रूप नहीं होता । किसी में चोरी की आदत है, किसी में हिंसा की हो, किसी में समता की हो तो पूछ सकते हैं और कह भी सकते हैं । क्योंकि वह वहाँ स्वभाव की बात नहीं है । वह अनेक पदार्थों के सम्बन्ध में होने वाले प्रभाव की बात है । पर किन्हीं एकाकी पदार्थों में हम कैसे यह खोज सकते हैं कि इसमें यह स्वभाव क्यों पड़ा ? क्यों हर जगह नहीं चलता । प्रकृति में "क्यों" का अवकाश नहीं है । और हर बात में क्यों क्यों की बात कहना भी मनुष्य का एक रोग है, क्योंकि रोग वाला मनुष्य किसी जगह आदर नहीं पाता । मास्टर पूछे बच्चे तुमने कला का पाठ याद कर लिया ? बच्चे कहें क्यों ? तो क्यों तो बैठे रहो । डाक्टर रोगी से पूछे कहो अब कैसी तबीयत है ? रोगी कहे क्यों ? तो क्यों तो क्यों सही ? जज पूछे वकील से

तुम इसमें कुछ सबूत रखते हो ? वकील कहे क्यों ? क्यों है तो जावो । तो क्यों जहाँ फिट है वहाँ तो ठीक है, पर हर बात में क्यों-क्यों ही चले तो बात न निभेगी । ये समस्त पदार्थ स्वभाव से ही अपने अपने लक्षणरूप हैं । कोई अस्तिकाय है, कोई एकप्रदेशी है, कोई चेतन है, कोई अचेतन है, कोई मूर्त है, कोई अमूर्त है । जो है, जैसा है उसे वैसा बता दिया गया ।

### श्लोक-413

अचिद्रूपा बिना जीवममूर्ता पुद्गलं बिना ।

पदार्थाः वस्तुतः सर्वे स्थित्युपतिव्ययात्मकाः ॥४१३॥

**पदार्थों का स्वरूप** – जीव को छोड़कर शेष के समस्त पदार्थ अचेतन स्वरूप हैं और पुद्गल को छोड़कर शेष के समस्त पदार्थ अमूर्त हैं । तो चेतन अचेतन इन दो प्रकारों में सब पदार्थ आ गए । इसी प्रकार मूर्त और अमूर्त इन दो प्रकारों में सब पदार्थ आ गए । कि तु वे सभी पदार्थ वस्तुतः उत्पाद व्यय ध्रौव्य से तन्मय हैं । उत्पाद का अर्थ बनना, व्यय का अर्थ है बिगड़ना और ध्रौव्य का अर्थ है बना रहना । प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है । बनकर भी बिगड़ा और बना रहा, बिगड़कर भी बना और बना रहा और बना रहकर भी बना और बिगड़ गया । ये तीन बातें प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय रहती हैं । चाहे इन तीनरूपों में पदार्थों को निहार लें और चाहे उत्पाद व्यय होता है वह तो पर्याय है और जो सदैव रहता है वह गुण है । तब गुण पर्यायरूप द्रव्य है ऐसा निहार लो । पर्याय चूँकि गुण से पृथक नहीं है । गुणों के ही समय समय का परिणमन है । हम पर्याय से द्रव्य में क्या भेद डालें । तब गुणों का समुदाय ही द्रव्य है यों निरखा जा सकता है । अथवा कोई भी गुण परिणम में बिना कभी रहता ही नहीं तो गुणों का रूपक बाह्य शक्ति पर्याय हैं, तब यों कहलो कि जो पर्यायों का समुदाय है वह द्रव्य है । इसमें चाहे उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त सत् कहो या गुणपर्यायवत् द्रव्य कहो या गुणसमुदायः द्रव्य कहो या पर्यायसमुदायः द्रव्य कहो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से हम द्रव्य को दृष्टि में लिया करते हैं । सभी पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप हैं । यह सब पदार्थों का तत्त्वभूत वर्णन चल रहा है ।

**यथार्थस्वरूपविज्ञान से आत्महित का प्रकाश** – सम्यग्दृष्टि जीवों का कैसा कैसा श्रद्धान रहता है और यथार्थ श्रद्धालु ही ध्यान का पात्र हैं यह बताने के लिए पदार्थों का स्वरूप कहा जा रहा है । इस स्वरूप से हम अपने हित के लिए शिक्षा भी लेते रहें । प्रत्येक पदार्थ खुद उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव वाला है, अतएव यह बात प्रसिद्ध हुई कि किसी भी पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ का परिणमन नहीं होता । कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का विनाश नहीं कर सकता जो प्रत्येक पदार्थों में परस्पर अत्यन्ताभाव है वह पुरुष बड़ा ज्ञानबली है जो निमित्त नैमित्तिक भावों को निरखकर भी वस्तु के स्वतंत्र स्वरूप की दृष्टि से

चिगता नहीं है । अग्नि में संयोग का निमित्त पाकर पानी गर्म हुआ, यह जानकर भी पानी में स्वयं स्पर्श उष्ण का हुआ है और पानी के स्पर्श की परिणति में ही उष्णता आयी है, यह अग्नि से निकलकर नहीं आती है, इस प्रकार की बात भी दृष्टि में रह सके, प्रमाण का साधन उपयोग में रह सके जिसके, वह एक विशिष्ट ज्ञानबली है, अन्यथा लोग तो जो निमित्त को, व्यवहार को पसंद करते हैं वे एकान्त से निमित्त और व्यवहार के ही प्रतिपादन और पोषण में जुट जाते हैं और फिर इस हट के कारण उपादान की निश्चय की बात कहने से भी चिढ़ हो जाती है और जिन्हें निश्चय उपादान स्वातंत्र्य प्रिय होता है वे उसके एकान्त में व्यवहार की भी सही बात कहने में हिचक लाते हैं । और वे उसके पोषण में इतना जुट जाते हैं कि व्यवहार की बात कह भी नहीं सकते । किन्तु ज्ञानबली पुरुष वह है जो प्रमाण द्वारा अपने आपको सही संतुलित बनाये । जिसके बारे में पदार्थस्वरूपवादिता ही प्रकट हो वह एक विशिष्ट ज्ञानबल है । ये सब हित की बातें पदार्थों के स्वरूप को सुनकर विवेकी पुरुष समझते जाते हैं ।

## श्लोक-414

अणुस्कन्धविभेदेन भिन्नाः स्युः पुद्गला द्विधा ।

मूर्ता वर्णरसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिणः ॥४१४॥

**पुद्गल का स्वरूप और भेद** – पुद्गल द्रव्य दो प्रकार के हैं – अणु और स्कन्ध । पुद्गल में ये दो भेद नहीं पड़े हैं कि कोई पुद्गल अणु कहलाता हो और कोई पुद्गल परमाणु कहलाता हो । किन्तु, पुद्गल तो सब एक ही प्रकार का है । अणु एकप्रदेश में है और उन अणुओं का समूह बनकर पिण्ड हो जाय तो उसे स्कन्ध कहते हैं । जैसे कहते हैं जीव दो तरह के हैं – संसारी और मुक्त । तो कहीं जीव दो तरह के नहीं हो जाते कि कोई जीव संसारस्वरूपी है और कोई मुक्तस्वरूपी है । जीव तो सब एक प्रकार के हैं किन्तु जिन जीवों का उपाधिवश संसारपरिणमन हो रहा है वे मुक्त कहलाते हैं ऐसे ही पुद्गल तो सही मायने में अणु ही हैं पर अणु का पिण्ड बन गया तो वह स्कन्ध कहलाने लगा । तो स्थूल दृष्टि से पुद्गल दो प्रकार के हुए – अणु और स्कन्ध । वे सभी पुद्गल चाहे वे अपने असली सकल में हों और चाहे वे बन्धनरूप में हो किन्तु सभी मूर्त हैं – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुणों से युक्त हैं ।

**जीव और पुद्गल के स्वरूप परिचय से आत्मशिक्षा** – जीव पुद्गल के स्वरूप के वर्णन से यह शिक्षा लें कि मैं चेतन हूँ, ये पुद्गल अचेतन हैं । देखिये इस समय जो हम आपकी स्थिति है उस स्थिति में भी ये दो बातें निरखी जा सकती हैं कि हम शरीर से ऐसे एकमेक हो गए कि हम शरीर से जुदा कहीं ठहर नहीं सकते और इससे जुदा हम अपने आपको निरख नहीं पाते । यों शरीर का जीव का ऐसा एक बन्धन हो गया है यों निरखा जा सकता है ना, और इस ही स्थिति में क्या यह नहीं निरखा जा सकता कि मैं

जीव हूँ, चेतन हूँ और ये समस्त शरीर स्कंध अचेतन हैं, अजीव हैं ? मेरा लक्षण चैतन्य है, शरीर का लक्षण मूर्तिकता है, मैं शरीर से न्यारा हूँ, क्या इस प्रकार का उपयोग नहीं बनाया जा सकता ? लेकिन जिसकी, रुचि बंधन देखने की ही है, शरीर से भिन्न चैतन्यमात्र निज के देखने की उमंग न हो, बोल न निकले, दृष्टि न बने उसका क्या भवितव्य है उसका मन में निर्णय कर लें और जो इस बंधन की ओर उपयोग नहीं लगाते, जो एक मात्र अपने स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप का उपयोग करते हैं उनका भी निर्णय कर लें कि भविष्य में उन्हें क्या मिलेगा ?

**स्वतंत्रता की रुचि** – रुचि स्वतंत्रता की होनी चाहिए, ज्ञान की बात और है । जो जैसा पदार्थ है उसे उस प्रकार से जान लें, लेकिन पदार्थ तो समस्त परिस्थितियों में अपने ही स्वभावरूप रहा करते हैं, अन्य पदार्थों के स्वभाव रूप नहीं बनते, तब यह वस्तु की स्वतंत्रता ही तो हुई । दृष्टि और उत्साह स्वातंत्र्य में पहुँचना चाहिए । हम बंधन में बंधे हैं और उस ही की दृष्टि रखें, दृष्टि रखने के मायने गुण माना है, हम बंधन के ही गुण गाते रहें तो यह एक संसार का तरीका हो गया । हम सब विवेचनों से कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं । कुछ भी चर्चा चल रही हो, तीन लोक की चर्चा, महापुराण पुरुषों की चर्चा कालरचना की बात सभी चर्चाओं से हम अपने हित के योग्य शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं । जो चर्चा में ही फँसते हैं, चर्चा से जो शिक्षा लेना चाहिए उसकी ओर दृष्टि नहीं देते हैं उनके लिए तो चर्चा भी धन मकान की तरह बाह्यविभूति है, लोक चर्चा में जहाँ लोक के विशाल प्रमाण का वर्णन आया वहाँ यह दृष्टि जगना चाहिए कि एक अन्तःस्वरूप के जाने बिना इस जीव ने इस लोक में सर्वत्र सर्वप्रदेशों पर अनन्त बार जन्म मरण किया । जब काल की चर्चा आयी, काल समस्त अनादि अनन्त है और यह जीव सत् भी अनादि अनन्त है और इस जीव का अनादि से परिणमन होता आया है, अनंतकाल तक परिणमन होता रहेगा ।

**जीवकायों के विज्ञान से स्वहितमार्गणा** – जीव का स्वकाय और बाह्य में परकाय इन दोनों की चर्चा से हम यह शिक्षा ले सकते हैं कि एक निज अन्तस्तत्त्व अनुभव बिना जीव अनादिकाल से संसरण ही करता रहा और जब तक परिचय न हो जायेगा तब तक चाहे अनन्त काल भी व्यतीत हो जाय यह संसरण चलता रहेगा । कुछ भी वर्णन हो उससे अपने प्रयोजन की बात निकालना चाहिए । व्यापार में व्यवहार में प्रयोजन की बात निकालने की ही आदत बनी रहे क्या ऐसा किया नहीं जा सकता ? जब जीवों के देहों की बात चल रही हो छोटे से छोटे अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर एक हजार योजन तक के लम्बे, ५०० योजन चौड़े और २५० योजन मोटे शरीर इस लोक में हैं, इससे यह शिक्षा लें कि एक अपने आपके सहजस्वरूप के अनुभव के बिना ऐसे विभिन्न शरीर में जन्म लेना पड़ता है । यह पदार्थों का स्वरूप चल रहा है । जो सम्यग्दर्शन के विषय हैं और सम्यग्दर्शन ध्यान का मुख्य अंग है, सत्य श्रद्धा के बिना ध्यान में कोई सफल नहीं हो सकता ।

## श्लोक-415

किन्त्वेकं पुद्गलद्रव्यं षड्विकल्पं बुधैर्मतम् ।

स्थूलस्थूलादिभेदेनसूक्ष्मसूक्ष्मेन च क्रमात् ॥४१५॥

**पुद्गल के छह प्रकार** – जो पदार्थ हमारी दृष्टि और व्यवहार में आते हैं उन पदार्थों के सम्बन्ध में और इन पदार्थों की जाति वाले अन्य अटपट पदार्थों के सम्बन्ध में जब तक यथार्थ निर्णय नहीं होता है तब तक चित्त को समाधान नहीं रहता और निराकुलता पाने की योग्य पात्रता नहीं रहती, इस कारण पुद्गल के विस्तार के सम्बन्ध में भी प्रयोजनभूत निर्णय रहना चाहिए । ये पुद्गल द्रव्य ६ प्रकार के हैं, स्थूल-स्थूल – जैसे पृथ्वी पर्वत आदिक मोटे पिण्ड हैं । दूसरे स्थूल जल दूध आदिक तरल पदार्थ । ये पृथ्वी की तरह पिण्डभूत तो नहीं हैं किन्तु पकड़ने में आते हैं, स्पर्श इनका होता है, अतएव ये स्थूल हैं । तीसरा है स्थूलसूक्ष्म – जैसे छाया गर्मी चाँदनी जो पकड़ने में भी नहीं आते किन्तु दिखते हैं, नजर तो आते हैं कि यह है छाया, यह है आताप । तो जो नेत्रइन्द्रिय से ग्रहण में आता है किन्तु पकड़ने में नहीं आता वह है स्थूल सूक्ष्म । चौथे नम्बर का पुद्गल है सूक्ष्म स्थूल जो नेत्र के सिवाय अन्य इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में आते हैं – जैसे शब्द, गंध इनके सम्बन्ध में आँखों देखी चीज जैसा, स्थूल जैसा निर्णय नहीं है जिसे देखकर हम कहते हैं किसी पदार्थ के सम्बन्ध में इस तरह एक प्रत्यक्ष उदाहरण जैसा सामने रख कर इसको नहीं बताया जा पाता । यह सूक्ष्म स्थूल है । ५वें नम्बर का पदार्थ है सूक्ष्म जो कि कर्मवर्गणा हैं । जो अनेक अणुओं के पिण्ड तो हैं किन्तु किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आते । और छठे नम्बर के हैं सूक्ष्मसूक्ष्म परमाणु जो सूक्ष्म ही हैं पिण्डरूप भी नहीं, अपने-अपने एकत्व को लिए हुए प्रकट हैं ।

**पदार्थों के वर्णन का प्रयोजन वस्तुस्वातन्त्र्य की दृष्टि का जागरण** – ६ प्रकार के ये पुद्गल पदार्थ हैं । ये सभी चेतना से रहित हैं, मूर्तिक हैं, इनसे आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, स्वतंत्र पदार्थ हैं, आत्मा का इन पदार्थों में अत्यन्ताभाव है । ये बाह्यपदार्थ आत्मा का हित नहीं करते हैं, अहित करते हैं । हम ही हित अहित करते समय ऐसा भाव बनाते हैं जिस भाव में ये बाह्यपदार्थ विषयभूत होते हैं, आश्रय होते हैं, वस्तुतः किन्हीं भी इन बाह्य पुद्गलों से आत्मा में कोई परिणमन नहीं होता । परिणमन किसी एक ध्रुव से उत्पन्न होता है । हमारा जो परिणमन है वह हम ध्रुव से उत्पन्न होगा, अन्य पदार्थों के जो परिणमन हैं वे उन अन्य ध्रुव पदार्थों से उत्पन्न होंगे । किसी पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ का परिणमन नहीं बनता । ऐसी वस्तुस्वातन्त्र्य की दृष्टि जगने का ही प्रयोजन है इन सब पदार्थों का वर्णन करने में ।

## श्लोक-416

प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि यथायथम् ।

आकाशान्तान्यमूर्तानि निष्क्रियाणि स्थिराणि च ॥४१६॥

**धर्म अधर्म आकाश द्रव्य की एकद्रव्यता और शुद्धता** – धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन तो एक-एक द्रव्य हैं, ये अनेक नहीं हैं, और तीनों ही अमूर्त हैं, निष्क्रिय हैं और स्थिर हैं, इनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, इस कारण अमूर्तिक हैं। धर्मद्रव्य एक अतिसूक्ष्म ऐसा पदार्थ है कि जो जीव पुद्गल के गमन में हेतुभूत होता है। अब भी वैज्ञानिकों ने कुछ न कुछ ऐसे माने हैं – जो गति के कारण हैं, तरंगों के कारण हैं, ऐसे कुछ ईथर उनकी कल्पना में आते हैं। वह भी एक संकेत है कि गतिहेतुभूत कुछ पदार्थ होना ही चाहिए। अधर्मद्रव्य भी सूक्ष्म है और वह जीव पुद्गल की स्थिति का हेतुभूत है। कुछ भी काम हो रहा हो उससे भिन्न कोई दूसरा काम हो तो अवश्य ही कोई दूसरा बाह्य कारण है। एक समान एक ही रूप परिपूर्ण कार्य होता रहे उसमें किसी बाह्य निमित्त के खोजने की आवश्यकता नहीं है। वह पदार्थ के अस्तित्व से ही सब कुछ हो रहा है, किन्तु जो परिणमन अभी कुछ है अब कुछ हो गया तो बाह्य परिणमन जो भी हुआ हो उसमें कोई बाह्य कारण अवश्य है। न हो बाह्य कारण तो पहिले से ही ऐसा क्यों नहीं हुआ और अनन्त काल तक ऐसा ही क्यों नहीं होता रहता। ये विभिन्नतायें बाह्य उपाधि का समर्थन करती हैं कि किसी बाह्य पदार्थ का निमित्त पाकर ये सूक्ष्म पदार्थ अपने आपमें स्वयं परिणमन कर लेते हैं। तो यहाँ धर्म, अधर्म, आकाश ये एक समान ही अपना परिणमन रखते हैं अतएव शुद्ध हैं।

**धर्म अधर्म आकाश द्रव्य की निष्क्रियता एवं स्थिरता** – ये धर्म, अधर्म, आकाश निष्क्रिय भी हैं, जितने में ये द्रव्य हैं, उतने से न कम होते अधिक होते। अर्थात् ये व्यापक हैं और व्यापक पदार्थों में क्रिया नहीं हो पाती। जैसे किसी घड़े में पूर्ण जल भरा हो तो उसमें क्रिया तरंग लहर नहीं उत्पन्न हो पाती और आधा चौथाई ही घड़ा भरा हो तो उसमें छलकन तरंग क्रियायें ये होती रहती हैं। जो सर्वव्यापक हो उसकी अब क्रिया क्या। धर्मद्रव्य इस लोकाकाश में सर्वत्र व्यापक है, यों ही अधर्मद्रव्य सब लोकाकाश में व्यापक है, और आकाश द्रव्य असीम है, सर्वव्यापक है, इस व्यापक पदार्थ में क्रिया कहाँ से बनेगी। धर्म अधर्म और आकाश ये निष्क्रिय हैं, और जो निष्क्रिय होते हैं वे स्थिर होते ही हैं। अस्थिरता तो क्रिया में चलती है। यों ये तीन पदार्थ अमूर्तिक हैं, निष्क्रिय हैं, और स्थिर हैं। जितनी बात से हमें प्रयोजन है जिससे हमें भेदविज्ञान करना है उतनी बात को सही समझने के लिए केवल उतना ही समझने की जरूरत नहीं है, उससे अधिक समझने की स्पष्टता के लिए जरूरत है। जैसे चतुर लोग किसी व्यवहार कार्य में किसी मामले को समझने के लिए पूर्वापर विस्तार से समझा करते हैं तब प्रयोजनीभूत घटना स्पष्ट समझ में होती है। तो यों पुद्गल से हमें अपने को न्यारा निरखना है, इस भेदविज्ञान के प्रयोजन के लिए केवल शरीर हम अपने को न्यारा समझ लें इतनी ही मात्र जानकारी बनें, इससे इस विविक्तता का विशद बोध

नहीं हो पाया, किन्तु उसके निकट का सब ज्ञान होना चाहिए तब हम उस विषय में सही ज्ञान वाले बन सकते हैं। ये धर्म अधर्म और आकाश जो कि अमूर्त हैं, जिनसे हमारा कोई भिड़ाव नहीं, रोक नहीं उसका भी वर्णन किया जा रहा है।

## श्लोक-417,418

सलोकगगनव्यापी धर्मः स्याद्गतिलक्षणः ।

तावान्मात्रोऽप्यधर्मोऽयं स्थितिलक्ष्मः प्रकीर्तितः ॥४१७॥

**धर्म और अधर्मद्रव्य का लक्षण** — धर्मद्रव्य समस्त लोकाकाश में व्यापक है और उसका जीव और पुद्गल की गति में सहकारी होना लक्षण है। जो जीव और पुद्गल के गमन में निमित्तभूत हो उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। अधर्मद्रव्य भी लोकाकाश में सर्वत्र व्यापक है, और धर्मद्रव्य की भाँति धर्मद्रव्य के ही बराबर यह अधर्मद्रव्य व्यापक है और अधर्मद्रव्य का लक्षण है चलते हुए जीव पुद्गल का ठहरना।

स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा ।

धर्मोऽयं सहकारी स्याज्जलं यादोऽङ्गिनमिव ॥४१८॥

**धर्मद्रव्य के लक्षण का विवरण** – यह धर्मद्रव्य स्वयं जाने के लिए प्रवृत्त हुए जीव पुद्गल की गति में सहकार्य निमित्त है। जैसे जल में रहने वाली मछली आदिक के लिए जल सहकारी है, जल प्रेरणा करके उन मत्स्य आदिक को नहीं चलाता है, किन्तु वे मत्स्य आदिक चलते हैं तो उस गति में जल सहायक निमित्त होता है। बात बिल्कुल स्पष्ट है। किसी नदी तालाब के निकट बैठकर आँखों से देख लो, पानी कुछ दबाव देकर मत्स्य आदिक को नहीं चलाता। जल तो शान्त भी है जिसमें तरंगें नहीं उठतीं, ऐसे जल के मध्य रहने वाले मत्स्य आदिक जीव अपनी इच्छानुसार ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर किसी भी दिशा में अपना गमन करते रहते हैं, ऐसे ही धर्मद्रव्य किसी जीव और पुद्गल को जबरदस्ती चलाता नहीं है किन्तु कोई चलना चाहे तो उसकी गति क्रिया में सहकारी हेतुभूत होता है। इसके अनुसार हम अन्य प्रसंगों में भी दृष्टि पसारें तो सब जगह यही नजर आने लगेगा कि मेरा इस आत्मा को किसी ने कुछ प्रेरणा कुछ परिणति दी नहीं है, यह आत्मा स्वयं ही परिणमता है। चाहे कितने ही निमित्त मिले हों और उन निमित्तों को पाकर ही परिणमता हो कोई, इतने पर भी जो परिणमन कार्य है वह किसी अन्य पदार्थ

में नहीं हो सकता है । अब जैसे जल मछली के चलने में उदासीन कारण है ऐसे ही धर्मद्रव्य चलते हुए जीवपुद्गल के गमन में सही कारण है ।

### श्लोक-419

दत्ते स्थितिं प्रपन्नानां जीवादीनामयं स्थितिम् ।

अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाध्ववर्तिनाम् ॥४१९॥

**अधर्म द्रव्य के लक्षण का विवरण** — अधर्मद्रव्य भी चलकर ठहरने वाले जीव और पुद्गल के ठहरने में सहायक कारण है । जैसे गर्मी के दिनों में कोई पथिक धूप में चल रहा है और उसे सड़क के निकट कोई छायावान वृक्ष मिले तो वह वृक्ष उस पथिक के ठहरने में निमित्त बन जाता है, ऐसे ही समस्त जीव पुद्गल के ठहरने में अधर्मद्रव्य निमित्त होता है । छाया ने जबरदस्ती उस पथिक को नहीं बुलाया, नहीं रोका, छाया तो छाया की जगह ही है, किन्तु यह पथिक ही स्वयं अपने खेद का अभाव करने के लिए अपने आप उस पेड़ के नीचे पहुँचा और वहाँ ठहर गया । तो जैसे वृक्ष किसी मुसाफिर को जबरदस्ती नहीं रोकता है, जब मर्जी हो तो रुको, न मर्जी हो तो चल दो, लेकिन कोई पुरुष रुकना चाहता है, अपने संताप को दूर करना चाहता है तो उसकी दृष्टि किसी छाया प्राप्त करने की ओर होती है, ऐसे ही समझिये कि अधर्मद्रव्य भी जीवपुद्गल को जबरदस्ती नहीं ठहराता है किन्तु चलते हुए जीव पुद्गल ठहरना चाहें तो उनके ठहरने में कारणभूत अधर्मद्रव्य है । यह द्रव्य अत्यन्त उदासीन विदित होता है किन्तु इस ही शैली से दृष्टि लगावो तो जो अधिक तीव्र प्रेरणा देते हैं वे भी मात्र सहकारी कारण मालूम होते हैं ।

### श्लोक-420

अवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम् ।

लोकालोकवित्पेन तस्य लक्ष्य प्रकीर्तितम् ॥४२०॥

**आकाशद्रव्य का स्वरूप** — आकाशद्रव्य समस्त द्रव्यों को अवगाह देने वाला है और सर्वव्यापी है लोक के अलावा अलोक में भी वही एक अखण्ड रहकर फैला हुआ है । अन्य सब द्रव्य तो किसी हद तक हैं । मान लो कोई रचना है, मकानात बनाना है, कोई प्राकृतिक भी रचना है, पर्वत आदिक बने हैं तो जो एक पिण्डरूप हैं, जिनका ऐसा विभिन्न आकार है उन पदार्थों का कहीं न कहीं अन्त जरूर होगा, अभाव

अवश्य होगा । यह चौकी बड़ी है तो रहने दो बड़ी, जितनी बड़ी है उतनी रहे, पर सर्वत्र यह चौकी नहीं हो सकती । इस चौकी की सीमा जहाँ खतम है उससे आगे तो आकाश ही मिलेगा । ऐसे ही जीव और पुद्गल का पिण्ड अन्य पदार्थ ये विद्यमान हैं तो इन पिण्डों का अन्त भी कहीं होगा । ये सब लोकाकाश के ही अन्दर हैं । लोकाकाश के बाहर द्रव्यों की गति नहीं है, किन्तु आकाश यहाँ वहाँ सर्वत्र व्यापक है, इस सम्यग्दर्शन के प्रकरण में जहाँ कि समस्त द्रव्यों का यथार्थ परिचय होने की प्रेरणा दी गई है उसमें इन सब पदार्थों का स्वरूप कहा जा रहा है । यह आकाश का स्वरूप बताया है, अब कालद्रव्य का वर्णन करते हैं ।

## श्लोक-421

लोकालोकप्रदेशेषु ये भिन्ना अणवः स्थिताः ।

परिवर्तय भावानां मुख्यकालः स वर्णितः ॥४२१॥

**कालद्रव्य का लक्षण** — लोकाकाश के प्रदेशों में काल के भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, अणु हैं और यह कालद्रव्य अपने स्थान पर आये हुए समस्त द्रव्य गुणपर्यायमय पदार्थों के परिवर्तन के कारणभूत है । जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेशपर ठहरे हुए द्रव्य हैं वे तो निश्चय काल हैं और जो समय घड़ी घंटा आदिक रूप से समझ में आने वाला समय है वह है व्यवहारकाल । देखिये – काल की ही क्या बात, समस्त परिणमनों का आधारभूत स्त्रोत जो कुछ भी पदार्थ है वह सूक्ष्म है, केवल ज्ञानगम्य है, इसके ये मोटे-मोटे स्कंध नजर आते हैं इन स्कंधों का मूलभूत जो कुछ भी तत्त्व है, अनन्तानन्त अणु हैं वे सब अणु भी सूक्ष्म हैं । उन अणुओं का भी प्रतिपादन व्यवहार किया कुछ हो नहीं पाता । फिर आत्मा के सम्बन्ध में समस्त आत्मा के परिणमनों का स्त्रोतभूत जो एक स्वभाव है उस स्वभाव का भी प्रतिपादन हो नहीं पाता, वह तो अनुभव से ही गम्य है । जैसे भोजन सामाग्री मिश्री आदिक कुछ मिठाईयाँ बनी तो ये केवल बातों से अनुभव में नहीं आते ये तो खाने से ही अनुभव में आ पाते हैं, ऐसे ही इन समस्त पदार्थों का ज्ञान करना है तो ये सब आत्मा से भिन्न हैं, इतने ही प्रयोजन को पुष्ट करने के लिए पदार्थ का ज्ञान विज्ञान बढ़ाने की आवश्यकता होती है, पर मूल प्रयोजन निराकुलता ही है । ज्ञान का मूल प्रयोजन शान्ति है । मैं लोक में धनी कहलाऊँ, प्रतिष्ठित हो जाऊँ आदिक कामनाओं के विकल्प अज्ञान हैं । तो जो अन्तस्तत्त्व है वह व्यवहारी नहीं हो पाता ।

**कालद्रव्य की पर्याय और उसके परिज्ञान से आत्मशिक्षा** — लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जो ठहरा हुआ कालद्रव्य है वह निश्चयकाल है, सर्वसमयों का आधारभूत कालद्रव्य है, यह कालद्रव्य पदार्थों के परिणमन के लिए निमित्त होता है । जैसे आत्मा से रागद्वेषादिक पर्यायें निकलती हैं ऐसे ही इन सब

कालाणुवों से समय नामक पर्याय निकलती रहती है, जो एक समय कहा जाता है सेकेण्ड का असंख्याते लाखवाँ करोड़वाँ हिस्सा वह तो है वास्तविक कालद्रव्य का परिणमन, लेकिन उन समयों को जोड़ जोड़ कर जो हम आप दिन सप्ताह पक्ष महीना वर्ष आदिक बनाते हैं और इस ही व्यवहारकाल के आधार पर व्यवस्था करते हैं वे सब उपचार काल हैं। कालद्रव्य के वास्तविक परिणमन नहीं हैं। वास्तविक परिणमन तो समय है, जैसे दिखने में आने वाले पिण्ड ये वास्तविक परमार्थ पदार्थ नहीं हैं। परमार्थ पदार्थ तो इन सबमें छुपा हुआ गूढ़ अव्यक्त किन्तु ज्ञानियों को ज्ञान द्वारा व्यक्त कोई एक अन्तस्तत्त्व है। किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में हम जानकारी बनायें उसके मौलिक स्वरूप पर दृष्टि डालकर तो वह दृष्टि ज्ञाता के कल्याण के लिए बनती है। तो सम्यग्दर्शन के प्रकरण में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन ६ द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इनका हम सही स्पष्ट बोध करें और सबसे न्यारे अपने आत्मस्वरूप को मानें, उसमें ही संतुष्ट हों तो इसमें ही अपने जन्म की सफलता है, बुद्धि पाई, ज्ञान पाया, उस सबकी सफलता है। हम तब तक भेदविज्ञान की भावना रखें तब तक केवलज्ञानरूप न परिणम जायें।

## श्लोक-422

समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम् ।

व्यवहाराभिधः कालः स कालज्ञैः प्रपिञ्चतः ॥४२२॥

**व्यवहार काल का वर्णन** — पूर्व छन्द में निश्चयकाल का स्वरूप कहा गया था। इस छंद में व्यवहार काल का वर्णन किया गया है। जिस काल का परिमाण ज्योतिषी देवों के समूह आश्रित हैं अर्थात् ज्योतिषी विमानों की गति के आधार पर है वे व्यवहार नामक काल कहे गए हैं। निश्चयकाल तो कालाणु हैं जो लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर ठहरा है और उसकी असली पर्याय अर्थात् जो पर्याय में अपना एकत्व रखता हो, पर्यायों का पिण्डरूप नहीं किन्तु कालद्रव्य का एक परिणमन है वह है समय। और उन समयों का जो समूह है वह है पर्यायों का पिण्डरूप व्यवहारकाल पर्याय। वह विशेष व्यवहार बनता है जो व्यवहार में समय माना गया है रात दिन घंटा तो घंटे के भी हिस्से हो जाते हैं ६० मिनट और मिनट के भी हिस्से हो जाते हैं ६० सेकेण्ड। जैसे उसमें कोई निमित्त होना और उसके भी हिस्से हो जाते हैं। तो हिस्से होते होते जो आखिरी निरंश हिस्सा है, जिसका दूसरा भाग न किया जा सके वह है समय और वह समय है कालद्रव्य का परिणमन। फिर उन समयों के समूह का नाम घड़ी घंटा के पीछे सभी रखे गए हैं। तो यह व्यवहारकाल सिर्फ उस गति पर आधारित है क्योंकि सूर्य की गति एक नियमित गति है और चंद्र की भी नियमित गति है। कहीं चंद्र के हिसाब से लोग महीना मानते हैं और कहीं सूर्य की गति

से महीना मानते हैं। सूर्य की गति से जो महीना मानते हैं उनके यहाँ कभी भी १३ माह का वर्ष नहीं पड़ता है। जो चन्द्र के हिसाब से महीना है वह सुदी १ से बदी अमावस्या तक है। अमावस्या में ३० लिखते हैं तो वे ३० शब्द चन्द्र के महीने के हिसाब से हैं। तो किसी हिसाब से सही, समय इन सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिष मण्डल की गति के आधार पर हैं। इसके अतिरिक्त अन्य में भी कल्पनाएँ चलती हैं। जैसे सुबह तारा बड़ा उग आता है तो लोग कहते हैं कि अब चार बज गए, जब एक तारा बिल्कुल ऊपर आता है तो लोग कहते हैं कि १२ बज गए। तो छोटे-छोटे ताराओं की गति पर भी समय जाना जाता है। यह सब व्यवहारकाल है। सब द्रव्यों का वर्णन इस सम्यग्दर्शन के प्रकरण में इसलिए कहा जा रहा है कि हमारे आसपास के समस्त पदार्थ और वस्तुओं का सही ज्ञान हो तो एक समाधानचित रहता है और इस समाधानचितता के कारण निराकुलता शान्ति सम्यक्त्व इन सबका उदय होता है।

### श्लोक-423

यदमी परिवर्तन्ते पदार्था विश्वर्तिनः ।

नव जीर्णादिरूपेण तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥४२३॥

**कालद्रव्य का उपकार** — लोक में रहने वाले समस्त पदार्थ जो नवीन और पुराने रूप से परिवर्तन करते हैं वह सब काल की ही चेष्टा समझिये। व्यवहारकाल जैसे-जैसे व्यतीत होता है वैसे ही वैसे इसमें परिवर्तन भी चलता रहता है। जैसे किसी को यहाँ से सहारनपुर जाना है, रेल से ही सही तो सहारनपुर पहुँचने में भी काल का उपकार माना गया है। यदि तीन घंटे का समय व्यतीत न होता तो आप कैसे सहारनपुर पहुँच सकते थे? सो इसमें कालद्रव्य का भी उपकार मानते हैं। कोई बालक अभी छोटा है और वह कभी बड़ा बनेगा, धनी बनेगा, या नेता बनेगा या रक्षाधिकारी बने तो उसमें काल का भी उपकार कहा सकते हैं। ८ वर्ष के बच्चे को कौन राजा बना देता है? जब एक पक्व अवस्था हो जाती है तब जाकर कुछ बात बनती है। तो विश्व के समस्त पदार्थ परिवर्तित होते हैं इसमें कालद्रव्य का उपकार है। जीव पुद्गल की गति में निमित्त है धर्मद्रव्य, स्थिति में निमित्त है अधर्म द्रव्य और वस्तुओं के परिणामन में निमित्त है कालद्रव्य। ये तीन बातें बहुत कठिनता से समझ में आती हैं। धर्मद्रव्य के सम्बन्ध में स्पष्ट क्या कहा जा सकता है? आकाश भी अमूर्त है लेकिन आकाश के सम्बन्ध में ऐसा लगता है कि जिसे हम दूसरों को स्पष्ट बता सकें यह तो है आकाश जो पोल है। यद्यपि पिण्डरूप नहीं है, न उसे पकड़ सकते हैं मगर बताने में बड़ा आसान लग रहा है, आकाश के सम्बन्ध में संकेत करने में बड़ा आसान लग रहा है, और धर्म अधर्मकाल भी अमूर्त हैं किन्तु इनका संकेत नहीं बनता। किसे अंगुलि उठाकर, कहाँ चित्त लगाकर समझायें कि यह है धर्मद्रव्य तो ये तीन द्रव्य जरा दुर्गम हैं समझने में। दुर्गमता आकाश में

भी होना चाहिए लेकिन पोल आदिक के ख्याल से वह लोगों को सुगम बन रहा है, जीव और पुद्गल अति सुगम हैं। पुद्गल तो सभी को सुगम हो रहे हैं, पिण्ड, वैभव, मकान, शरीर ये सब प्रत्यक्ष से नजर आ रहे हैं और जीव का समझ लेना इस कारण सुगम है कि यह खुद जीव है और जो बीतती है वह खुद पर बीतती है, खुद की बात खुद की समझ में झट आती है झगड़ा भी जीव और पुद्गल का है। धर्मादिक द्रव्य भी समझ लेने चाहियें, उसी में कालद्रव्य का यह वर्णन है, इसका भी अर्न्तबाह्य स्वरूप समझ लेना चाहिए।

**भेदविज्ञान के लिये स्वरूपपरिचय का महत्व** — जब जानकारी करना है तो सभी प्रासंगिक जानकारी होना चाहिए, किन्तु भेदविज्ञान में तो जीव और पुद्गल पर ही विशेष किया गया है। और, जब रागादिक से न्यारा हूँ, विकल्पों से जुदा हूँ ऐसा अपने को न्यारा तका तो पुद्गल के निमित्त से होने वाले प्रभावों से भी अपने को न्यारा तका। जो यह नैमित्तिक भाव प्रभाव है वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। प्रभाव में बर्तकर भी उस प्रभाव से अपने को न्यारा प्रतीति में रखे ऐसा सम्यक्त्व का अतुल प्रताप है, स्वाद आता है उसकी जिस ओर दृष्टि हो। गृहस्थावस्था में रहकर भी निष्कलंक शुद्ध चित्स्वभाव पर दृष्टि जाय तो वहाँ जो विशुद्धि और आनन्द जगता है उसमें यह गृहस्थी की परिस्थिति बाधा नहीं देती है, लेकिन वह बात चिरकाल तक टिक सके इसमें बाधा देती है। और, उसका कारण यह है कि इन बाह्यपरिस्थितियों में ऐसे संस्कार लगाया है कि किसी समय थोड़े क्षण को उपयोग का साथ तो दें कि हम उस शुद्ध मायारहित चित् ब्रह्म को समझें, किन्तु झलक पाते ही अथवा पूर्णरूप से झलक भी नहीं पाते हैं, कुछ उसमें प्रवेश होता है कि उतने में वे सब संस्कार जो जरूरी माने रखे हैं और कदाचित् किसी स्थिति में जरूरी कहलाते हैं उन सबकी स्मृतिय झलक में बाधा डाल देती हैं। तो भेदविज्ञान प्राप्त करने के लिए पर को जानने की सही रूप में आवश्यकता है। जिनमें हम अनादिकाल से लगे पगे आ रहे हैं उनका यथार्थस्वरूप समझें तो हमारी कैसे निर्वृत्ति हो सकती है, इस ध्येय को लेकर ध्यान के इस ग्रन्थ में ध्यान के अंगभूत सम्यक्त्व के प्रकरण में पदार्थों का स्वरूप बताया जा रहा है।

## श्लोक-424

भाविनो वर्तमानत्वं वर्तमानात्वतीतताम् ।

पदार्था प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्थिताः ॥४२४॥

**कालकेलिकद्रिशत होकर पदार्थों की भावी वर्तमानरूपता** — पदार्थकाल की लीला से एक अवस्था से अन्य अवस्था को प्राप्त होते हैं। जो अवस्था वर्तमान में है अगले क्षण वह अवस्था न रहेगी, नवीन अवस्था बनेगी और वर्तमान अवस्था अतीत हो जायगी। इस प्रकार समय समयपर अवस्था पलटती रहती है।

अब कुछ अवस्थायें इसकी जल्दी समझ में आती हैं, कुछ परिवर्तन बहुत काल के बाद समझ में आते हैं । जैसे एक बालक बढ़ता है तो वह रोज-रोज बढ़ रहा है पर रोज-रोज का बढ़ना हमारी समझ में नहीं आता । सालभर बाद समझ में आया कि यह तो बड़ा हो गया । और जो घर के लोग हैं वे तो साल भर बाद समझा नहीं पाते कि यह तो बड़ा हो गया । देखते यद्यपि रोज-रोज हैं । जो कोई ६-७ माह बाद देखे तो उसकी दृष्टि में आयगा कि यह बड़ा हो गया । समझ में कभी आये लेकिन पदार्थ प्रतिसमय परिणमता है । चाहे उन्नति में आये, चाहे अवनति में आये, कैसी ही अवस्था हो जाय, पर प्रति समय परिणमन होता है । यह बात प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप में पड़ी हुई है । इस मर्म को न मानकर आखिर सिद्ध तो करना ही पड़ेगा ना कि पदार्थ का संहार होता है, पदार्थ की रचना होती है और ये दोनो बातें पदार्थ कायम रहे बिना होती नहीं, तब तीन देवता के रूप में अनेक लोगों ने माना किन्तु पदार्थ सब त्रिदेवनामय हैं, अणु-अणु उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त हैं, ये ही अलङ्कार में ब्रह्मा, विष्णु महेश हैं । पदार्थ का परिणमन, स्वभाव, परिचय में आने से एक वस्तुस्वातंत्र्य का ज्ञान होता है ।

**परिणामपारिणामिक भाव और निमित्तनैमित्तिक भाव की रुचि का प्रभाव —** देखिये रुचि की बात कि पदार्थ ये नानापरिणमन परउपाधि का निमित्त पाकर होते हैं, इसमें कोई झूठ बात नहीं है, जितने भी विभावपरिणमन होते हैं, चाहे आत्मा में हो रहे हों अथवा पुद्गल में हो रहे हों, किसी अन्य पदार्थ के निमित्त से होते हैं । परिणमन होता है उपादान में ही, उपादान परिणति से ही, पर विभावपरिणमन किसी अन्य पदार्थ का निमित्त पाकर होता है । यह बात सही है । और, यह बात भी सही है कि कितने ही निमित्त पाकर हों परिणमन, पर किसी भी निमित्त से वे परिणमन होते नहीं हैं, वे अपनी ही शक्ति से उदित होते हैं, दोनों बातें यथार्थ हैं, फिर भी किसी की रुचि निमित्त पोषण के लिए लगे और किसी की रुचि वस्तुस्वातंत्र्य के उपयोग में रहे, इस भेद से भी फलभेद हो जाता है इसे आप अंदाज कर लीजिए । निमित्त की रुचि होने पर, निमित्त पोषण का ही विकल्प और मंतव्य रहने पर निराकुलता का अभ्युदय नहीं हो पाता, जब कि निमित्तप्रसंग के बीच रहकर भी हम जब वस्तुस्वातंत्र्य का उपयोग रखते हैं, प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में परिपूर्ण है और जो कुछ भी होता है प्रत्येक पदार्थ का उसमें ही परिणमन होता है । इस प्रकार की जब हम स्वातंत्र्य दृष्टि रखते हैं तो कितने ही विकल्प शान्त होते हैं और शान्ति का अभ्युदय होता है ।

**व्यवहारनय का विरोध न करके निश्चयनय के अवलम्बन का महत्व —** इस प्रसंग में एक बात यह भी शिक्षारूप में मिलती है कि निमित्त निमित्त के प्रसंग में ही अब तक हमारा अनादि से भ्रमण होता चला आया, हम उसे जान लें कि यों हुआ है, पर हम अपनी रुचि अपने उपयोग की प्रगति में कोशिश यह करें कि हम वस्तु के स्वतंत्रस्वरूप को ही लायें । एक निषेध करके निश्चय की ओर जायें तो वह कुनय है, पर व्यवहार का विरोध न रखकर निश्चयनय का आलम्बन लेने से शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि होती है । आचार्य संतों ने उपदेश भी किया है और इन शब्दों में बताया है कि जो पुरुष व्यवहारनय का विरोध न रखकर मध्यस्थ रहकर और निश्चयनय का आलम्बन न कर मोह को दूर करते हैं, वे पुरुष श्रेयोमार्ग में

बढ़ते हैं और श्रेय प्राप्त करते हैं । तो यह समस्त वस्तुस्वरूप का जो परिज्ञान है यह सब आत्महित के लिए उपकारी है, अतएव सम्यक्त्व के प्रकरण में वस्तुस्वरूप का वर्णन किया जा रहा है ।

## श्लोक-425

धर्माधर्मनभः काला अर्थपर्यायगोचराः ।

व्यञ्जनाख्यस्य सम्बन्धौ जीवपुद्गलो द्वावन्यौ ॥४२५॥

धर्म, अधर्म, आकाश व कालद्रव्य की शाश्वत अर्थपर्यायगोचरता — धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य ये तो अर्थपर्याय के विषय हैं, अर्थात् इनमें व्यवहारिकता नहीं बनती, विभिन्न द्रव्यपर्यायें नहीं बनतीं, इनका आकार नहीं बनता, जो है जैसा है वैसा ही अनादि से अनन्तकाल तक है । धर्मद्रव्य असंख्यातप्रदेशी है और ऐसे ही यह शाश्वत है । न एक प्रदेश घटता, न एक प्रदेश बढ़ता, उसका आकार क्या ? आकार की कल्पना वहाँ होती है जहाँ रूप बदले । फिर भी जो शाश्वत है वह कितना विशाल है इस दृष्टि से बताया कि वह लोकाकाश के आकार है । अधर्म भी आकाश भी और कालद्रव्य भी इसी प्रकार नियताकार है । कालद्रव्य एक प्रदेशमात्र है । इनमें षड्गुणहानि वृद्धियाँ हैं और स्वभाव से अपने में समानरूप परिणमते रहते हैं, किन्तु जीव और पुद्गल इनकी व्यञ्जन पर्यायों से सम्बन्ध है । नाना आकार बनता है और नाना क्रोध मान आदिक अनेक भाव वितर्क जो भेदरूप हैं और भेद करके बताये जा सकते हैं ये सब परिणमन चलते हैं, तो धर्म आदिक चार द्रव्यों के आकार तो पलटते नहीं, वहाँ तो उनके ही स्वभाव से सतत समान परिणमन चलता रहता है, किन्तु जीव और पुद्गल के आकार पलटते रहते हैं । जीव का तो आकार है, मगर स्वयं उसका कुछ आकार नहीं है, जब जिस शरीर में है उस शरीर के बराबर आकार है, उसका कोई निर्णय नहीं है । आज कोई एक जीव एक इंच लम्बा चौड़ा है, कभी वही गजों लम्बा चौड़ा हो जायेगा और मुक्त होने पर जीव सत्त्व के कारण निजी गाँठ का कुछ आकार नहीं, किन्तु जिस पर्याय से मुक्त हुए हैं उस पर्याय में जो आकार है, कर्ममुक्त होने के बाद उस आकार के घटने का क्या कारण रहे और उस आकार से भी बढ़ने का क्या कारण रहे । तो घटने बढ़ने का कारण न होने से जिस पर्याय से मुक्त हुए हैं वहाँ जो आकार था उस आकार रूप रह गए । जीव में जीव की ओर से यदि कुछ आकार होता तो मुक्त होने पर सब मुक्त जीवों का प्रमाण अवगाहन एक समान हो जाता । चाहे कुछ भी होते जो स्वभाव आकार होता उस रूप होते । तो जीव में और पुद्गल में तो व्यञ्जनपर्यायें होती हैं, मगर पलटती रहती हैं, किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सदैव अवस्थित स्थिर एक समान रहा करते हैं ।

## श्लोक-426

भावाः पञ्चैव जीवस्य द्वावन्त्यौ पुद्गलस्य च ।  
धर्मादीनां तु शेषाणां स्याद्भावः पारिणामिकः ॥४२६॥

**द्रव्यों में पञ्चभावों का विश्लेषण** — जीव में तो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये ५ भाव होते हैं और पुद्गल द्रव्य में औदयिक और पारिणामिक ये दो प्रकार होते हैं । औदयिक का अर्थ है किसी दूसरे पदार्थ के समक्ष होने से निकलने से आने से संयोगबल से जो प्रभाव होता हो उसका नाम औदयिक है । और पारिणामिक का अर्थ है कि पदार्थ अपने स्वभाव के कारण जो स्वभावभाव हो सो पारिणामिक है । पुद्गल में ये दो बातें पायी जाती हैं और शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमें पारिणामिक भाव ही है । उन-उन पदार्थों का उन ही के स्वरूप के कारण जो बात होती है वह पारिणामिक भाव है । जीव में चेतना की दृष्टि से इस भाव के अर्थ किए जाते हैं, पर इन भावों का एक सामान्य लक्षण बनायें तब पारिणामिक तो सब पदार्थों में हैं और औदयिक जीव और पुद्गल में ही हैं और औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये जीव में ही होते हैं इस तरह भाव के सहारे पदार्थ किस-किस रूप में रहते हैं यह सब चित्रण होता है । यों ६ द्रव्य हैं, उन ६ द्रव्यों में एक आत्मद्रव्य ज्ञाता है । वह आत्मा मैं हूँ, आप हैं । इस आत्मा में अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द का सामर्थ्य है, किन्तु आह्व की ओर आसक्त होकर हमने अपने सामर्थ्य को भुला दिया है । अब जिस किसी भी प्रकार हम अपनी ओर उपयोग ला सकें, यहाँ ही दृष्टि स्थिर रख सकें ऐसी चर्चा, ऐसा संग, ऐसा ध्यान, स्वाध्याय आदिक के द्वारा हम यत्न करें कि अपने को निकट अधिक समय रख सकें ।

## श्लोक-427

अन्योन्यसंक्रमोत्पन्नो भावः स्यात्सान्निपातिकः ।  
षड्विंशतिभेदभिन्नात्मा स षष्ठो मुनिभिर्मतः ॥४२७॥

**जीव के सान्निपातिक भावों का निर्देश** — जीव के ५ भाव हैं – औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक । इन ५ भावों के परस्पर संयोग से उत्पन्न हुए परिणाम हैं सान्निपातिक भाव । जैसे सन्निपात रोग होता है, वात पित्त बनकर हो, वात कफ मिलकर हो, वात पित्त कफ तीनों मिलकर हो । ऐसे ही इन ५ भावों के मेल से जो भाव उत्पन्न होता है वह छठे आदि किस्मों का भाव

समझ लो, वह है सान्निपातिक भाव । कोई भी जीव ऐसा नहीं है कि जिसके कोई एक ही भाव हो । संसारी जीवों में भी कोई है क्या ? क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये दो भी संसारी जीवों के साथ रहेंगे, चाहे औपशमिक, क्षायिक न हों । सिद्धभगवान हो गए तो वहाँ भी केवल पारिणामिक नहीं रहा, उसके साथ उस क्षायिक भी है । तो दो भाव और दो से अधिक भावों के मेल से जो समझने की दृष्टि बनी है उस समझ में सान्निपातिक भाव भी बन जाता है । और, यह सान्निपातिक भाव २ के मेल से, ३ के मेल से, ४ के मेल से और पाँचों के मेल से बनता है, सो ये सान्निपातिक भाव अनेक भेदरूप हो जाते हैं । जीवों के भावों का वर्णन करने से अनेक रहस्य और आचरण की पद्धति विदित होती है । औदयिक भाव से यह सिद्ध होता है कि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर क्रोधादिक होते तो हैं, पर वे जीव के स्वतत्त्व हैं अर्थात् जीव के ही गुण के परिणामन हैं । वही कर्म ही परिणामनकर कई बन जायें ऐसा नहीं है । कर्मों के उदय का निमित्त पाकर यह जीव कषायरूप बन जाता है । इतना होने पर भी आत्मा का स्वभाव कभी बदलता नहीं है । वह शाश्वत एक रूप है । इस बात को बताने वाला पारिणामिक भाव है । औदयिक भाव होकर भी जीव का पारिणामिक भाव नहीं मिटता । तो क्षायिक भाव वह बताता है कि उदय से उपाधि के सन्निधान से उत्पन्न होने वाला जो भाव है उसका विनाश हो सकता है । कहीं अपने को रागरूप मानकर साहस न खो दें कि हम तो इसी तरह पिटने जन्मने मरने के लिए ही हैं, हमारा काम ही यह है, ऐसा श्रद्धान में न लायें, किन्तु यह प्रतीति में रक्खें कि इस औदयिक भाव का विनाश हो सकता है और जिन उपाधियों का निमित्त पाकर यह औदयिक भाव होता है उन उपाधियों का क्षय हो सकता है । जहाँ क्षय की बात सम्भव है वहाँ उपशम की भी बात सम्भव है । जहाँ समूल नाश करने की बात बन सकती है वहाँ उसके उपशम की भी बात बन सकती है । और जब यह बात सम्भव है तो उदय भी हुआ, उदयाभावी क्षय भी हुआ, ऐसी मिश्रदशा भी सम्भव है । तो वह है क्षायोपशमिक भाव । यों ५ भावोंरूप यह जीव है ऐसा ध्यान के प्रकरण में ध्यान के अंगभूत सम्यग्दर्शन के अन्तराधिकार में जीव के तत्त्व का वर्णन किया है ।

## श्लोक-428

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशा गणनातिगाः ।

कियन्तोऽपि न कालस्य व्योस्तः पर्यन्तवर्जिताः ॥४२८॥

धर्म, अधर्म, एकजीव, काल और आकाशद्रव्य के प्रदेशों की जानकारी — किसी भी पदार्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार दृष्टियों से निरखा जाता है । लोक में भी हम जिन पदार्थों को जानते हैं उस जानने में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि की कला पड़ी हुई है । जो कुछ भी दिख रहा है – यह भीत है,

इसका ज्ञान होने के प्रसंग में भी चारों बातें विदित हो रही हैं । यह एक पिण्ड है यह तो द्रव्य हुआ, और यह इतने लम्बे चौड़े आकार में है यह क्षेत्र हुआ और इसकी जो भी अवस्था है – सफेद है या मैली है, पुरानी है या नई यह सब काल हो गया और इसकी शक्ति भी साथ-साथ विदित हो रही है, यह भाव हो गया । तो किसी भी लौकिक पदार्थ को जानते हैं तो जानने के ही साथ-साथ चार दृष्टियाँ उसके निर्णय में रहती हैं, चाहे उन्हें पकड़ न सकें, पर समग्रज्ञान, पूर्णज्ञान जब होता है तो उसमें ये चारों बातें रहा ही करती हैं । घड़ी देखा, ज्ञान हुआ तो पिण्ड जानकर आकार जाना, वर्तमान दशा जानी और उसकी दृढताशक्ति जानी, ये सब ज्ञान हैं या नहीं ? इस ज्ञान में ही ऐसी कला है कि ज्ञान चारों दृष्टियों का निर्णय करता हुआ ही हुआ करता है । जहाँ इन चारों दृष्टियों में कोई भी दृष्टि कम रह जाय तो वहाँ कुछ अधूरापन सा या कुछ उसकी ओर जिज्ञासा सी बनी रहती है । तो इन ६ द्रव्यों के सम्बन्ध में जो विवेचन किया जा रहा है उसमें कुछ विवेचन द्रव्यदृष्टि से है, कुछ विवेचन कालदृष्टि से है, कुछ विवेचन भावदृष्टि से है । अब इस श्लोक में क्षेत्रदृष्टि से विवेचन किया जा रहा है । क्षेत्रदृष्टि से आकार का ज्ञान होता है । आकार माप से सम्बन्ध रखता है । माप का मूल आधार अविभागी माप होता है । जैसे एक गज कहा तो उसके ३ फुट अंश है, फिर एक फुट में १२ इंच अंश हैं, एक इंच में दस सूत अंश हैं, एक सूत में असंख्यात प्रदेश अंश हैं । एक प्रदेश का अंश नहीं होता है । अविभागी एक परमाणु द्वारा जितना क्षेत्र घिरे उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं । ऐसे प्रदेश धर्मद्रव्य में असंख्यात हैं, अधर्मद्रव्य में असंख्यात हैं, कालद्रव्य एकप्रदेशी ही है, आकशद्रव्य में अनन्त प्रदेश हैं । ये सब क्षेत्रदृष्टि से पदार्थ के सम्बन्ध में यदि आकार विदित न हो तो उसके बारे में कुछ स्पष्ट ज्ञान सा नहीं होता । कोई पुरुष किसी मनुष्य की चर्चा कर रहा हो और आप उस मनुष्य से कुछ भी परिचित नहीं हैं, कभी देखा नहीं उसका डीलडौल । आपके चित्त में सब बातें सुनकर कुछ अधूरी सी लगती हैं और जिस मनुष्य के बारे में बात चल रही है उसका आपको अपरिचय है । आकार प्रकार आपको विदित है तो आप उसमें रुचि रखने लगते हैं, क्या कह रहे हैं यह, फिर क्या हुआ, मन माफिक बात सुनना चाहते हैं तो पदार्थ का आकार विदित हो वहाँ स्पष्ट ज्ञान होता है, इस कारण क्षेत्रदृष्टि से भी पदार्थ के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य ज्ञान होना ही चाहिए ।

## श्लोक-429

एकादयः प्रदेशाः स्युः पुद्गलानां यथायथम् ।

संख्यातीताश्च संख्येया अनन्ता योगिकल्पिताः ॥४२९॥

**पुद्गल द्रव्य के प्रदेशों की जानकारी** — पुद्गलद्रव्य तो वस्तुतः एकप्रदेशी हैं । शुद्ध पुद्गल एक परमाणु का नाम है । स्कंधों में स्कंध वस्तुतः द्रव्य नहीं है । द्रव्य तो परमाणु है, किन्तु परमाणुओं का पिण्ड

परमाणुओं का मिलान ऐसा विलक्षण होता है जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता । जीव जीव मिलकर पिण्ड नहीं बन सकता । जो शरीर में जीव और देह कुछ मिला हुआ पिण्ड सा लगता है वह जीव और पुद्गल मिलकर पिण्ड बना हो इस कारण नहीं लगता, किन्तु जीव और पुद्गल में योग्यतानुसार ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि वह उस सम्बन्ध से बाहर नहीं जा सकता, इसी कारण पिण्डरूपता का भ्रम है । जीव जीव पिण्ड नहीं बन सकते । जीव पुद्गल पिण्ड नहीं बन सकते, जीव धर्म आदिक पिण्ड नहीं बन सकते । यों ही सभी पदार्थ परस्पर जोड़ लगाकर देखते जायें कहीं भी पिण्ड नहीं बनता । केवल पुद्गल ही ऐसे विलक्षण पदार्थ हैं कि जिनका संघात होने पर एक पिण्ड बन जाता है । वस्तुतः पुद्गल द्रव्य एक परमाणु है, वे मिलकर संख्यात परमाणु तक के स्कंध बन जायें, दो तीन चार मिलकर स्कंध बन जायें, यों ही लाखों, करोड़ों, अरबों संख्यात् अणु मिलकर स्कंध बन जायें, कुछ असंख्यात परमाणु मिलकर स्कंध बन जायें और कुछ अनन्त परमाणु मिलकर स्कन्ध हो जायें । हम आपको जो कुछ भी दिखता है, छोटी से छोटी चीज सुई की नोक भी अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है । अब आप समझ लीजिए कि छोटे से छोटे कण जो आँखों दिख रहे हैं उनमें परमाणुओं के पुञ्ज हैं । एक परमाणु इतना सूक्ष्म होता है तो इस तरह पुद्गल द्रव्य कोई संख्यातप्रदेशी हैं, कोई असंख्यातप्रदेशी हैं और कोई अनन्तप्रदेशी हैं ।

### श्लोक-430

मूर्तो व्यञ्जन पर्यायो वाग्गम्योऽनवशरः स्थिरः ।

सूक्ष्म प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥४३०॥

**व्यंजनपर्याय व अर्थपर्याय का विश्लेषण** — पदार्थों में दो प्रकार की पर्याय हैं – एक तो स्थूल परिणमन जो प्रतिपादन में भी आ सकता है, विकल्प विचारने में भी आ सकता है और एक होती है अर्थपर्याय । जो सूक्ष्म परिणमन है और समय समय में नष्ट हो जाने वाला है । जैसे आदमी में व्यंजन पर्याय देखें तो मनुष्य, तिर्यञ्च, देव नारकी ये सब जो भव हैं ये भव व्यंजन पर्याय हैं, बहुत मोटी पर्याय हैं और बीसों, हजारों वर्षों तक पल्य सागरों पर्यन्त रहती हैं । उससे कुछ और सूक्ष्मता की ओर चलें तो जो कोई विकल्परूप परिणमन है, रागद्वेषादिक सुख दुःखादिक अनुभवरूप परिणमन हैं वे इस पौद्गलिक मूर्ति की अपेक्षा तो सूक्ष्म हैं, किन्तु स्थूल हैं, कई समयों तक ये पर्यायें रहती हैं, वचन के गोचर हैं, हमारी पकड़ में भी आ जाती हैं । अब ऐसी जो गुणरूप पर्याय हुई, जिसके सम्बन्ध में हम वचनों से भी कुछ कह सकें तो वह पर्याय अनेक समयों की पर्याय पर जो हमारा उपयोग चलता रहा उसकी यह देन है । हम आपके उपयोग में एक यह खास कमी है कि हमारा आपका उपयोग एक समय की स्थिति का ज्ञान नहीं

कर सकता । अनेक समयों की स्थिति पर ख्याल रखकर यह उपयोग चला करता है । तो इस उपयोग में जो कुछ ख्याल हुआ हम आपको वह व्यञ्जनपर्याय है, लेकिन युक्ति द्वारा, ज्ञान द्वारा हम यह तो समझ ही सकते हैं कि बहुत समय तक टिकने वाला जो परिणमन है उस परिणमन में मूलतः एक एक समय रहने वाली परिणति है और उन परिणतियों का पुञ्ज एक जो व्यवहाररूप में परिणमन कहा जाता वह स्थूल है और व्यञ्जनपर्याय है । कहीं कहीं गुणों के परिणमन का नाम अर्थपर्याय कहा है और प्रदेशत्व गुण के उपयोग का नाम व्यञ्जनपर्याय कहा है । यह सब विविक्षा से और प्रयोजन की दृष्टि से ठीक प्रतीत होता है । व्यञ्जनपर्याय तो मूर्तिक है, वचनों के द्वारा कहा जा सकता है और यह चिरकाल तक रहने वाला है, किन्तु अर्थपर्याय सूक्ष्म है और क्षण क्षण में नष्ट होती है । यह अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय जीव और पुद्गल में होती है । जीव पुद्गल को छोड़कर शेष के चार द्रव्यों में अर्थपर्याय है, व्यञ्जन पर्याय नहीं मानी गई । इस प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रसंग में अजीव तत्त्व का वर्णन किया गया है और साथ ही जीव का भी वर्णन हुआ अब प्रयोजनभूत जो ५ तत्त्व हैं – आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन ५ प्रयोजनभूत तत्त्वों से जो विशेष प्राकर्णिक हैं उनका वर्णन किया जा रहा है । तो जीव और अजीव पदार्थ के वर्णन के बाद बन्ध का वर्णन करते हैं । जीव की बंधपर्याय अनादिकाल से है और वर्तमान में हम बन्धपर्याय से ही गुजर रहे हैं, यही दुःखरूप है, इसे छोड़ने की आवश्यकता है, जिससे हम छुटकारा चाहते हैं और अनादिकाल से लगा हुआ चला आ रहा है उसका ज्ञान करना बहुत जरूरी है । अतएव बन्धतत्त्व का वर्णन कर रहे हैं ।

## श्लोक-431

प्रकृत्यादिविकल्पेन ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ।

ज्ञानावृत्यादिभेदेन सोऽष्टधा प्रथमः स्मृतः ॥४३१॥

**कर्मबन्ध के प्रकार** — बन्ध होते हैं तो वहाँ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की बात आ पड़ती है । बंध ४ प्रकार का है – प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध और अनुभाग बंध । द्रव्य याने पिण्डरूप से जब देखें तब प्रदेशबंध ज्ञात होता है । यदि द्रव्यदृष्टि से समझ ली जिसे – प्रकृतिबंध ज्ञात हो तो प्रदेशबंध क्षेत्रदृष्टि से समझ लें । चूँकि यह बन्धन है और बंधन होता है दो में, एक में बंधन नहीं हुआ करता, अतएव दो द्रव्यों का बंधन हुआ तब प्रदेशबंध हुआ । इस न्याय से तो प्रदेशबंध द्रव्यदृष्टि की देन है, द्रव्यदृष्टि से ज्ञात हुआ, और चूँकि प्रदेश एक क्षेत्र है, आकार है अतः प्रदेशबंध क्षेत्रदृष्टि से ज्ञात हुआ । दो क्षेत्रों का दो द्रव्यों का जो बंधन हुआ वह प्रदेशबंध है और दो प्रकृतियों का बंधन हुआ वह प्रकृतिबंध है । आत्मा की शुद्ध प्रकृति में अशुद्ध प्रकृति का बंधन बन गया अर्थात् स्वभाव में विभाव बन गया, स्वभाव तिरोहित हो गया । कम

से कम दो समय और दो समय तो स्थिति होती ही नहीं है, बहुत अधिक समय होती है। एक समय के बिना अनेक समयों में जो बंध होता है वह स्थितिबंध है। एक समय के समागम को स्थितिबंध नहीं कहते। वह आस्त्व है, उसे आना और जाना कहते हैं। आने जाने में बंधन नहीं है। आने जाने का एक समय का ही काम है, पर रोक दे तो एक समय से अधिक समय लगे बिना रुकता नहीं है। अतः अनेक समयों में स्थितिबंध हुआ, यों ही अनेक भावों में अनेक समयों का अनुभाग बंध हुआ अति जघन्य अनुभाग रहे वहाँ बंधन नहीं है। दशम गुणस्थान में जघन्य कषाय रहती है। वह कषाय कषायों का बंध नहीं करती। तो बंध के प्रकरण में इस श्लोक में प्रकार बताये हैं कि बंध ४ प्रकार का है – प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध और अनुभागबंध। प्रकृतिबंध तो है ज्ञानावरण आदिक। अमुक कर्म ज्ञानावरण को ढके, दर्शन को ढके, साता असाता को उत्पन्न कराये मोह कषाय उत्पन्न करे, शरीर में रोक रखे, जिससे नाना प्रकार के शरीरों की रचना बने, जिससे ऊँच नीच कुल व्यक्त हो, अभीष्टकार्य में विघ्न आये, ऐसी बातों का निमित्तभूत जो कर्म है उस कर्म में उस उस प्रकार की प्रकृति पड़ जाना इसका नाम प्रकृतिबंध है।

## श्लोक-432

मिथ्यात्वाविरतो योगः कषायाश्च यथाक्रमात् ।

प्रमादैः सह पञ्चैते विज्ञेया बन्धहेतवः ॥४३२॥

**बन्ध के कारण** — बंध के कारण ये ५ हैं – मिथ्यात्व, अविरति, योग, कषाय और प्रमाद। बंध के कारण तो संक्षेप में अध्यवसान हैं, उसके बाद विस्तार करें तो मोह और कषाय हैं। मोह और कषाय का जो परिणाम है विभावरूप उन सबका संचायक शब्द है अध्यवसान। जो अपने आपका स्वरूप से भी अधिक निश्चय कर डाले उसे कहते हैं अध्यवसान। अधि अव सान। हैं ना मोही जीव सर्वज्ञ से भी ज्यादा अपनी दौड़ लगाने को तैयार? सर्वज्ञ तो जो पदार्थ जैसा सत् है उसको ही जानते हैं, पर ये मोही जीव सत् को भी जानते असत् को भी जानते। जो नहीं है उसको भी जानते। मकान मेरा नहीं, फिर भी जानते कि मकान मेरा है। भगवान तो नहीं जानते कि यह मकान इनका है, पर ये मोही जीव जानते हैं। तो ये मोही जीव प्रभु से भी अधिक जानने की अपनी दौड़ लगाया करते हैं। तो निकट विस्तार से अधर्म के हेतु दो हैं – मोह और कषाय। इसके पश्चात् और विस्तार बनायें तो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये बंध के कारण हैं। अब गुणस्थानों की परिपाटी से भेद बनायें तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के कारण हैं। स्व पर का विवेक न रहना, पर से अपना स्वरूप समझना, पर से सुधार बिगाड़ मानना ये सब मिथ्यात्व भाव हैं। प्रतीति में वस्तु की स्वतंत्रता न रहे तो ये

सब मोहभाव हैं । किसी विषय का या निश्चयनय के विषय का खण्डन करने का प्रोग्राम बना लिया जाये तो उसमें केवल यही यही सूझता है कि ग्रन्थ में कोई ऐसा प्रकरण मिल जाये कि वह निश्चय के विषय के खण्डन का हमें कुछ आश्रय मिल जाये । चर्चा में या रात दिन यही धुन रहती है – निमित्त से सब सिद्ध करना और निश्चय के विषय का खण्डन करना । यद्यपि जीवन ऐसा मध्यस्थ होना चाहिए था कि निश्चय की बात के भी हम जानकार रहें, व्यवहार की बात के भी हम जानकार रहें और अधिकाधिक उद्यम निश्चयनय के आलम्बन का करें । कल्याण के लिए ऐसा जीवन होना चाहिए । किन्तु जब एक कोई पक्ष बन जाये तो पक्ष की सीमा की बात तो हम कुछ कह नहीं सकते, उसमें तो यही कहना होगा कि निश्चयनय पक्ष की भी अधिक सीमा कर लें तो हानि है, लेकिन व्यवहार पक्ष की कोई अधिक सीमा कर लें तो वहाँ भी हानि है और व्यवहार पक्ष का बीचोंबीच भी बनायें तो दृष्टि में व्यवहार एक से दूसरे का कुछ हुआ, इस अपेक्षा को ढूँढने का विकल्प बनाते रहने से वहाँ हानि है । स्पष्ट लिखा है कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में कि जो व्यवहार का भी खण्डन न करके निश्चय का आलम्बन करके अपने शुद्धस्वरूप को जानते हैं वे मोह का क्षपण कर सकते हैं । कितनी निष्पक्ष और स्पष्ट बात है ।

**कल्याणेच्छु का संकल्प** — जिसे कल्याण की चाह है उसको पहिले तो अपने आपमें ही यह भाव दृढ़ कर लेना चाहिए कि कल्याण की बात मिले यही हमारा कर्तव्य है, हमें किसी को कुछ सुनाना नहीं है, किसी को कुछ मानना नहीं है । सुनायें और मनायें भी कभी, मानने की बात तो ठीक नहीं है, सुनाने की बात भी करें कभी तो उसमें हम अपने को ही सुनाते हैं । हम अपने आपको अपने में दृढ़ कर लें, इसके लिए हमारा सब प्रयास है, यह जानन सबसे पहिले आना चाहिए । इस भावना के बिना इस ज्ञानप्रचार के माध्यम से ही सही यदि उपयोग क्षेत्र में उतर आयें तो यह अपने कल्याण से तो गिर गया । हम जो कुछ भोगते हैं अपने आपके परिणमन को ही भोगते हैं, दूसरे लोग कोई हमारे ईश्वर नहीं हैं । जिसको हम मनाने चलें, जिसको हम कुछ अपनी बात मनायें अथवा कुछ अपना पक्ष थोपकर लोगों में हम अपना कुछ नाम करें, ये सब बातें मोह की चेष्टा मात्र हैं । कभी किसी प्रकार नाम भी होता हो तो ये तो जगत् की बातें हैं, किन्तु मुझे किसी भी अन्य जीव से कुछ नहीं चाहना है न कोई अन्य जीव मुझे कुछ दे सकता है । इस जगत् में सभी जीव अपने आप अकेले अकेले ही अपना विहार, भ्रमण, जन्म, मरण, सुधार, बिगाड़ सब कुछ कर रहे हैं । किसी का कोई साथी नहीं है, मुझे तो मेरा प्रभु ही शरण है । मेरा सहायक मेरा गुरु, मेरा देव, मेरा मित्र मुझमें ही बसा हुआ अंतस्तत्त्व है, उसका ही सच्चा शरण है । इस ओर ही जब दृढ़ भावना बने तब हमारी सब चेष्टायें हमारे लाभ के लिए बनती हैं । पर का उपकार भी स्व के उपकार के लिए है । कोई मनुष्य इस दृष्टि से पर का उपकार करे कि मुझे दूसरे का भला करना है, दूसरे की ही दृष्टि रखे और करे तो भले ही विषयों के भोगने की अपेक्षा कुछ मंदकषाय तो है लेकिन मैं दूसरों का कुछ कर सकता हूँ इस प्रकार का मिथ्यात्व का अनुबन्धन करने वाली कषाय साथ है । अपने आप में अपने आपको स्पष्ट होना चाहिए । ज्ञानमार्ग में अपने आपका अपने को भरोसा रखना चाहिए । बातें सुनें सबकी पर अपने आपसे अपने आपका निर्णय लेना चाहिए । केवल एक पक्ष अथवा किसी को मित्र मानकर उसके रंग में ही अपने को रंगते रहने का कार्यक्रम न रखना चाहिए । निर्णय करें

अपने आपसे कि हम इस प्रकार मानते हैं और बोलते हैं, सुनाते हैं, समर्थन करते हैं, इस प्रक्रिया में हमने शान्ति का कितना अनुभव किया ? सब पुरुषार्थ करना शान्ति के अर्थ हुआ करते हैं । शान्ति न मिले तो सब बातें ही बातें रहें । धर्म का सम्बन्ध नहीं हो सका । यहाँ बन्ध की चर्चा कर रहे हैं कि बन्ध के हेतु क्या हैं ? एक इस निरपेक्ष सहज अंतस्तत्त्व के परिचय के बिना जो भी हमारी चेष्टायें होती हैं, सब बन्ध के कारण हैं ।

**बन्धहेतुओं का गुणस्थानानुसार विभाग** — यहाँ ५ प्रकार के बन्ध हेतु कहे हैं, उसमें यह विभाग करना कि मिथ्यात्व गुणस्थान में तो ५ ही हेतुओं से बन्ध हो रहा है — मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग । दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवे गुणस्थान में अविरति, प्रमाद, कषाय और योग — इन चार कारणों से बंध होता है । ५ वें गुणस्थान में कुछ व्रत परिणाम हैं और कुछ अव्रत परिणाम भी हैं । छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग इन तीन कारणों से बंध होता है और ७ वें से लेकर १० वें गुणस्थान तक कषाय और योग इन दो कारणों से बंध होता है और ११ वें, १२ वें, १३ वें गुणस्थान में योग से बंध होता है किन्तु उसका नाम बंध नहीं है । रूढ़ि से बंध नाम है क्योंकि जो योग पहिले गुणस्थान में बंध का सहकारी कारण था उस योग का नाम बदनाम है अतएव बंध का हेतु कह लो पर वह तो ईर्यापथ आस्रवहै । जहाँ दो समय की स्थिति बने उसे बंध कहते हैं । यों मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के कारण हैं । त्यागरूप परिणाम न होने को अविरति कहते हैं और चारित्र में असावधानी के परिणाम को अथवा उस निर्विकल्प ध्यान में अनुत्साह के परिणाम को प्रमाद कहते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभरूप जो परिणामन है उसे कषाय कहते हैं और आत्मा के प्रदेश का जो परिस्पंद है, जो कि मन, वचन, काय के योग के निमित्त से होता है उसे योग कहते हैं । यह सब सम्यग्दर्शन के प्रकरण में बंध तत्त्व की बात चल रही है । जिससे हमें छूटना है उसके स्वरूप के जाने बिना हमारा छूटने का उद्यम नहीं हो सकता, अतः आस्रव बंध जैसे हेय तत्त्व भी हमें भली प्रकार से समझ लेना चाहिए ।

### श्लोक-433

उत्कर्षेणापकर्षेण स्थितिर्या कर्मणां मता ।

स्थितिबंधः स विज्ञेय इतरस्तत्फलोदयः ॥४३३॥

**स्थितिबंध का स्वरूप** — उत्कृष्ट जघन्य अथवा मध्यम अनेक भेदों में घटते-बढ़ते हुए जो काल की मर्यादा है उसके बंध जाने का नाम स्थिति बंध है । जैसे भोजन करने पर उन परमाणुओं में स्थिति बन जाती है कि ये परमाणु जो कि खूनरूप परिणमंगे वे इतने दिन रहेंगे, जो पसीनारूप परिणमंगे वे इतने घंटे रहेंगे, जो माँस रूप परिणमंगे वे और अधिक काल रहेंगे, जो हड्डीरूप परिणम जायेंगे वे और अधिक काल रहेंगे, ऐसे ही विभाव परिणामों के निमित्त से जो कर्मबंधन हो जाते हैं, उन कर्मवर्गणाओं में स्थितिबंध हो

जाता है, इतने परमाणु ये इतने वर्ष रहेंगे, ये इतने वर्ष रहेंगे । तो ऐसे उत्कृष्ट, जघन्य और मध्य के भेदरूप बढ़ते घटते कर्मों की स्थिति को स्थितिबंध कहते हैं और कर्मों के फल का उदय होने का नाम अनुभागबंध है । जो फल देने की शक्ति है और जितने अंशों में फलदान शक्ति है, जो अनुभाग बंधा है उसके अनुरूप फल मिल जाये यही तो अनुभाग बंध का फल है । तो उन फलों में जो ये डिग्रियाँ बनी हैं कि ये इतने दर्जे तक इतनी शक्ति से फल देंगे, ये इतनी शक्ति से फल देंगे ऐसा अनुभाग बंध जानना अनुभाग बंध है । यहाँ तक प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध बताया, अब प्रदेशबंध बतला रहे हैं ।

### श्लोक-434

परस्परप्रदेशानुप्रवेशो जीवकर्मणोः ।

यः संश्लेषः स निर्दिष्टो बन्धोविध्वबन्धनैः ॥४३४॥

**प्रदेशबन्ध का स्वरूप** — जीव कर्मों के प्रदेश का परस्पर एकक्षेत्रावगाह प्रवेश होने का नाम प्रदेशबन्ध है । जीव के प्रदेशों का और कार्माणवर्गणा के प्रदेशों का अर्थात् परमाणुओं का जो परस्पर में बन्धन होता है उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं । यद्यपि जीव अमूर्त है और उसमें पुद्गल वर्गणायें स्पर्श भी नहीं करतीं किन्तु कर्मबन्धन की दृष्टि से यह आत्मा मूर्तवत् हो गया है, और अमूर्त भी हो तो भी मलिन होने के कारण इसका परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक रूप बन्धन है । पुद्गल-पुद्गल की तरह पिण्डरूप बन्धन नहीं है और वह निमित्त-नैमित्तिक रूप बन्धन इस विलक्षणता को लिए हुए है कि जिसमें एक पिण्डरूप से एक क्षेत्र में जीव और कर्मों का रहना बने इस प्रकार का बन्धन है । बन्धन को निरखने की भी दो दृष्टियाँ हैं — एक निश्चयदृष्टि और एक व्यवहारदृष्टि । निश्चयदृष्टि से आत्मा, आत्मा में ही बंधी है अर्थात् आत्मस्वभाव में विभावों का बन्धन हुआ है जिससे स्वभाव का विकास तिरोहित है और विभाव का बन्धन लग गया है । जैसे कोई पुरुष किसी मित्र के तीव्र स्नेह में हो तो उस पुरुष को मित्र से बन्धन नहीं है किन्तु मित्र के प्रति जो मन में विचार उठता है और जो मोहरूप परिणमन चल रहा है, हितकारी मानने की जो दृढ़ता बसी हुई है उस मित्र के स्नेहभाव का ही उस पुरुष को बन्धन है । लेकिन उस स्नेह बन्धन में विषयभूत मित्र है, इस कारण व्यवहार से यों कहा जाता है कि उस पुरुष को मित्र से बन्धन बन गया है । कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि खुद-खुद से बँध जाते हैं । तो इसी प्रकार यह आत्मा अपने भावों की दृष्टि से अपने भावों से ही बँधा है और उस समय की परिस्थिति कैसी है इसे बाह्य की दृष्टि से देखा जाये तो जीव कर्म से बँधा है, देह से बँधा है और इतना ही क्यों कहो — यह मकान से भी बँध गया और परिजनों से भी बंध गया । जब कभी कोई या तो अपने आपको धर्मात्मा सिद्ध करने की या कोई यश लूटने के लिए कहा जा रहा हो या कुछ सही बात भी हो तब कहा जाता है कि भाई मेरे घर में छोटे

बालक हैं अथवा स्त्री बहुत भोली है, कुछ कमाने वाली आर्थिक व्यवस्था अधिक ठीक नहीं है इसलिए बन्धन पड़ा हुआ है, नहीं तो मैं एक क्षण भी घर में नहीं रहना चाहता हूँ। तो आप वहाँ यह निर्णय करें कि क्या स्त्री का बन्धन है, क्या धन का बन्धन है, क्या बच्चों का बन्धन है। आपके आत्मा में जो उस जाति के विभाव तरंग उठे, आप केवल उस विभाव से ही बँधे। कल के दिन वही स्त्री आपसे प्रतिकूल बर्ताव करने लगे या वह अति स्वच्छन्द बन जाये तो फिर आपको उससे मोह न रह सकेगा। और, कभी ज्यादा कल्पनाएँ उठ जायें तो आप घर छोड़कर भाग जायेंगे, फिर चाहे कुछ भी हो। बन्धन सब अपने-अपने विभावों का है, परवस्तु का बन्धन नहीं। लौकिक उदाहरण में भी अब यह देखेंगे सर्वत्र कि जो जीव दुःखी हैं, जो बँधे हैं और परिणामों से दुःखी हैं और परिणामों से ही बँधे हैं। किसी को कोई जीव गुलाम करने वाला नहीं है। सबको अपने आपमें ही ऐसी ही अशक्ति की स्थिति बन रही है कि खुद स्वतंत्र बनकर परतंत्र बन रहे हैं। अथवा यों कहो कि स्वतंत्र से परतंत्र बन रहे हैं। परतंत्र बनने में भी स्वतंत्रता ही काम कर रही है, परवश होकर हम परतंत्र नहीं बन रहे किन्तु अपने आपके परिणामों से ही हम परतंत्र बन रहे हैं। तो सब बन्धन अपने आपकी ही भूल का है, वस्तु का नहीं है। जब हम अपना सही निर्णय बना लें और अपनी स्वतंत्रता समझ लें, अपनी कल्पना की दृष्टि बन जाये तो वहाँ कोई दूसरा हमें परतंत्र विकल्पक दुःखी बनाने वाला नहीं हो सकता। इस प्रकरण से यह उत्साह लेना चाहिए कि हम अपने स्वतंत्र स्वरूप को निरखें, देह और कर्मों से न्यारे केवल अंतस्तत्त्व को जानें, बस यही हमारे उद्धार का मार्ग है।

## श्लोक-435

प्रागेव भावनातन्त्रे निर्जरास्रवसंवराः ।

कथिताः कीर्त्तयिष्यामि मोक्षमार्गं सहेतुकम् ॥४३५॥

**मोक्षमार्ग के सहेतुक वर्णन का संकल्प** — निर्जरा आस्रव और संवर का वर्णन पहिली ही भावना के प्रकरण में किया गया है। तो इस प्रकार आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा इन चार तत्त्वों का वर्णन यहाँ तक हुआ। जब ध्यान के योग्य मुनीश्वरों की प्रशंसा की गई है तो कैसे-कैसे ध्याता योगीश्वर प्रशंसनीय हैं उस प्रसंग में संवर का और निर्जरा का विशेष वर्णन हुआ था और वहीं प्रतिबंधरूप से आस्रव का भी वर्णन हुआ था। अब मोक्ष तत्त्व का वर्णन सहेतुक कर रहे हैं।

## श्लोक-436

एवं द्रव्याणि तत्त्वानि पदार्थान् कायसंयुतान् ।

यः श्रद्धते स्वसिद्धान्तात्स स्यान्मुक्तेः स्वयंवरः ॥४३६॥

**तत्त्वार्थश्रद्धान की मुक्तिसाधकता** — इस प्रकार जो द्रव्यों को, तत्त्वों को, पदार्थों को, अस्तिकायों को मानता है, इनका श्रद्धान करता है वह पुरुष मुक्ति का स्वयंवर होता है अर्थात् उसे मुक्ति प्राप्त होती है । ६ द्रव्यों का इस प्रकार जानना जिसमें प्रत्येक द्रव्य के स्वचतुष्टयात्मकता की ध्वनि चलती रहे । इस प्रकार की प्रतीति सहित द्रव्यों का ज्ञान हुआ, यह कैवल्य अवस्था की प्राप्ति के लिए साधक है । मुक्ति में कैवल्य अवस्था रहती है, केवल अकेलापन, प्योरिटी, एकाकिता की स्थिति का नाम मुक्ति है । तो जहाँ केवल बनना है तो वह केवल पदार्थ क्या है, इस प्रकार का बोध होना और वैसी प्रतीति होना और केवल निज के अनुरूप आचरण होना यह आवश्यक है । तो कैवल्य अवस्था की प्राप्ति के लिए पदार्थों का इस प्रकार बोध होना आवश्यक है कि जिस पद्धति में पदार्थ स्वचतुष्टय से रहित निरखने में आता रहे । तत्त्व का भी इस पद्धति से बोध हो सकता है । तत्त्वों के सम्बन्ध में आधार आधेय का भ्रम नहीं उत्पन्न होता । तत्त्व क्या है ? कोई परिणमन । उस परिणमन का आधार क्या है, किसकी परिणति है और वह परिणमन किस वस्तु का है, उपादान और निमित्त का क्या मिलकर परिणमन हैं, अथवा मात्र एक उपादान का ही परिणमन है — इन सब निर्णयों के साथ तत्त्व का परिज्ञान होना और इस पद्धति से परिज्ञान होना कि वह परिणमन अपने स्त्रोतभूत पदार्थ से निर्गत हुआ है, यों निरखकर परिणमन को उपादानभूत पदार्थ में विलीन कर सके अर्थात् अपनी कल्पना में अपने वितर्क में पर्यायरूप तत्त्व का अभेद न रहे और अभेद पदार्थ उपयोगगत हो जाये और फिर वह भी सामान्य दृष्टि से कि जहाँ परद्रव्यों का भी विकल्प न रहे और स्व की अनुभूति का वातावरण बने, इस पद्धति से तत्त्व का जानना कैवल्य अवस्था की प्राप्ति में साधक है । यों ही पदार्थ और अस्तिकाय के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए । तो जो पुरुष कैवल्य की उपासना करता है वही कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो सकता है । कैवल्य की उपासना से मतलब शुद्ध आत्मा के केवलज्ञान की उपासना से भी है, और जब निज का परिज्ञान हो रहा हो या अन्य-अन्य पदार्थों का परिज्ञान हो रहा हो तो उसमें भी कैवल्य स्थिति क्या है, उसके परिज्ञान से भी प्रयोजन है । तात्पर्य यह है कि जो भूतार्थ पद्धति से द्रव्य तत्त्व पदार्थ और अस्तिकायों का श्रद्धान करता है उसे मुक्ति प्राप्त होती है ।

### श्लोक-437

इति जीवादयो भावा दिङ्मात्रेणात्र वर्णिताः ।

विशेषरुचिभिः सम्यग्विज्ञेयाः परमागमात् ॥४३७॥

**जीवादितत्त्वों का परमागम से परिज्ञान करने का संदेश** — इस प्रकरण में जीवादिक पदार्थों का एक प्रयोजनदृष्टि से दिग्दर्शन मात्र कराया गया है । जिन पुरुषों को इन द्रव्यादिक के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक जानने की इच्छा हो उन्हें अन्य करणानुयोग सम्बन्धी और न्यायशास्त्र ग्रन्थों से अध्ययन करना चाहिए । करणानुयोग में भेद प्रभेद प्रतीति, भाव, प्रभाव, काल, क्षेत्र सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन है, अध्यात्मशास्त्रों में अभेद पद्धति से भूतार्थ पद्धति से तत्त्व का विवेचन है और न्यायशास्त्र में जो कि द्रव्यानुयोग का ही एक भेद है युक्तियों पूर्वक अर्थापत्ति और अर्थानुपत्ति के आधार पर तत्त्वों का विवेचन किया गया है । इन द्रव्यानुयोग और करणानुयोग के शास्त्रों के जीवादिक तत्त्वों के सम्बन्ध में विशेष जान लेना चाहिए । यह ग्रन्थ ध्यान तंत्र है, सम्यक् ध्यान बनाने के लिए जितना कुछ आवश्यक ज्ञातव्य है उतना इसमें वर्णन किया गया है ।

### श्लोक-438

सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम् ।

मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥४३८॥

**सम्यक्त्व महारत्नलाभ के लाभ** — यह सम्यग्दर्शन महारत्नसमूह लोक का एक भूषण है कल्याण है निराकुलता में । अनाकुलता उत्पन्न होती है ध्रुव तत्त्व का लगाव रखने में और आकुलता अध्रुव तत्त्व के लगाव में उत्पन्न होती है । अध्रुव तत्त्व में लगाव न रहे इसके लिए आवश्यक है कि ध्रुव तत्त्व का लगाव उत्पन्न करें । आत्मा का तो एक स्वभाव है कि किसी न किसी ओर उसका लगाव रहे, रमण रहे । कहीं विकल्परूप से रमण रहता है, कहीं निर्विकल्परूप से रमण रहता है । अध्रुवतत्त्व में प्रतीति न उत्पन्न हो तो प्रतीति का उपादान रखने वाले आत्मावों का यह कर्तव्य है कि वे ऐसा ज्ञान उत्पन्न करें, इस पद्धति से ज्ञानविकास करें कि ध्रुवतत्त्व में लगाव बढ़े । चर्चा ध्रुवतत्त्व की हो, दृष्टि ध्रुवतत्त्व की हो, श्रद्धा, धुन, विचार ध्रुवतत्त्व के लिए हो । ऐसी धुन बने वह ध्रुवतत्त्व के लगाव बढ़ाने का यत्न है । इस जीव ने अब तक अध्रुव तत्त्व से लगाव रखा और उस ही के फल में चतुर्गति भ्रमण चलता रहा । अपने आपके सम्बन्ध में इस जीव ने अपने को नाना रूप माना । होने वाले विभाव, विकल्प, विकार इनका लगाव रखा । उनमें इष्ट और अनिष्ट की कल्पनाएँ कीं । इतना ही नहीं, जो बात नहीं हो सकती है उसको भी इसने होना माना । जैसे मकान, वैभव, धन, परिजन मेरे नहीं हो सकते हैं लेकिन इसने मेरे ही माना ।

कोई कहे कि तेरे नहीं हैं तो उससे चोट पहुँची और दूसरे की बात इसने झूठ माना, इतना अधिक लगाव है परवस्तुओं से । परवस्तुओं से लगाव तो नहीं किन्तु इसकी कल्पनाओं में लगाव है । वस्तुतः लगाव तो जीव का अपने भावों से होता है । इसका इतना तीव्र लगाव है परपदार्थों में कि यह मान रहा है कि वैभव मेरा है, परिजन मेरे हैं, मित्र मेरे हैं और यहाँ तक लगाव है कि शत्रु को भी कहता है कि यह शत्रु मेरा है । यह अध्रुव तत्त्व का लगाव छूटे एतदर्थ कर्तव्य है कि हम ध्रुव तत्त्व को समझें और निज ध्रुव तत्त्व को समझें । परपदार्थगत ध्रुव तत्त्व को जानें तो उससे भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद रहा । बीच में एक खाई बनी जिससे यह ज्ञाता स्वज्ञेय में लीन नहीं हो सका । निज ध्रुव तत्त्व कहो, कारणसमयसार कहो, चैतन्य स्वभाव कहो, शाश्वतरूप कहो, उसकी धुन हो, उसका लगाव हो, उसके अवलोकन की उमंग हो और उस परिणमन में ही कल्याण है ऐसी प्रतीति हो तो वहाँ परपदार्थों से उपेक्षा और विश्राम होकर स्व में प्रवेश होता है । ज्ञान की अनुभूति होती है, ज्ञानमात्र में हूँ इस प्रकार का परिचय और इस प्रकार का अपने आप का परिणमन का अनुभव बनने से ज्ञान की अनुभूति होती है, और ज्ञान ही है स्वरूप तो ज्ञानानुभूति में स्वानुभूति होती है । लोक में विशेष का, भेद का, विस्तार का बहुत महत्व माना जाता है, किन्तु कल्याणक्षेत्र में सामान्य का, अभेद का, संक्षेप का, केन्द्र पर ही टिकाव होने का महत्व माना गया है ।

**सम्यक्त्व की महारत्नरूपता व प्रताप** — निज सम्यक्त्व का सम्यक् प्रयोजन के लिए सम्यक् परिणति द्वारा दर्शन होना यह सम्यग्दर्शन महारत्न है और यह सम्यग्दर्शन रत्न मुक्ति पर्यन्त सर्वकल्याण को देने में समर्थ है । मुक्ति से पहिले जो मोक्षमार्ग के अनुभवन चलते हैं, निर्विकल्प स्थिति में प्रगति होती है और निर्विकल्प पदवियों का अनुभवन चलता है वह भी सम्यग्दर्शन का प्रताप है, और सर्वजीवविकार दूर होकर जो शुद्ध कैवल्य का अनुभवन होता है वह भी सम्यग्दर्शन का प्रताप है और मुक्ति होती है, परमकल्याण होता है तो वह भी सम्यग्दर्शन का प्रताप है । यह सम्यग्दर्शन सूर्य अपने प्रतापों को बढ़ा-बढ़ाकर मुक्तिरूपी कल्याण को भी प्रदान करने में समर्थ हो जाता है । वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, ये तीन जुदे-जुदे तत्त्व नहीं हैं । आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है और इसका स्वभाव भी अखण्ड है, और जब भी जो कुछ परिणमन होता है वह भी उस काल में एक अखण्ड परिणमन है, किन्तु एक व्यवहार तीर्थ चलाने के लिए लोगों को समझाने के लिए चर्चा विस्तार के लिए उस अखण्ड का जिस प्रकार बोध हो उस पद्धति से खण्ड करके भेद करके विरूपण और विवरण करके उसे समझाने का यत्न करना आवश्यक ही है और इस कारण व्यवहार क्षेत्र में उस अखण्ड तत्त्व के गुण और पर्यायों के रूप को भेद किया गया है और वह समस्त भेद वर्णन इतना यथार्थ है कि उस पद्धति की यथार्थता के कारण भेददृष्टि से यह यथार्थ जँचता है कि यह तो सर्वथा ऐसा ही तो है । क्या आत्मा में ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण, आनन्दगुण ये अनन्तगुण नहीं हैं ? अनन्तगुण वाला आत्मा है ऐसा कहने में कुछ गौरव सा भी अनुभूत होता है । हम आत्मा की बहुत बड़ी बड़ाई कर रहे हैं । हम आत्मा को अनन्तगुण वाला कहते हैं । समझाने की पद्धति इतनी यथार्थ है कि अनन्त गुणों से हम आत्मा की महिमा आँकने लगे । किन्तु,

इस मर्म से अपरिचित न रहना चाहिए कि जिसकी दृष्टि में आत्मा एक अखण्ड है अखण्ड स्वभावरूप है, अखण्ड पर्यायमय है ऐसी अद्वैतभरी ज्ञप्ति बन रही हो, महिमा उसकी विशेष है। तो जो अभेदपद्धति है उससे जिसको निर्णय करने की दृष्टि मिली है ऐसे पुरुष को यह सम्यग्दर्शन महारत्न मुक्तिपर्यन्त कल्याण को प्रदान करने में समर्थ है। ध्यान के ग्रन्थ में ध्यान का मुख्य अंग सम्यग्दर्शन बताया है और ध्यान के प्रयोजन के लिए ही सम्यग्दर्शन का यह वर्णन चल रहा है।

### श्लोक-439

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम् ।

तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सन्धिः सद्दर्शनं मतम् ॥४३९॥

**सम्यक्त्व की ज्ञानचारित्रबीजरूपता** — यह सम्यग्दर्शन संत पुरुषों के द्वारा चारित्र और ज्ञान का बीज कहा गया है, अर्थात् ज्ञान की स्वच्छता और आत्मा का आचरण इन दो सद्वृत्तियों को उत्पन्न करने में सम्यग्दर्शन विशेष साधकभाव है। ऐसी प्रकृति है कि जिस पुरुष को जिस भाव में रुचि होगी उसकी उस भाव में श्रद्धा होगी, उस ही का उपयोग रहेगा और उस ही में रमण चलेगा। मोही जीवों को विषयकषायों में रुचि है तो विषयकषायों की ही उन्हें श्रद्धा बनी रहती है। इन भावों से ही हमारा हित है, इसमें ही बड़प्पन है, इसमें ही श्रेष्ठता है और जब विषयकषायों में ही श्रद्धा रही तो उपयोग भी उसका बना रहता है और विषयकषायों की प्रवृत्ति भी बनी रहती है। जिस सत्पुरुष को अन्तरात्मा को निज ध्रुव तत्त्व में रुचि जगी हो, समस्त अध्रुव भावों से जिसने अहित समझा है उसका ही उपयोग इस ध्रुव तत्त्व के लिए रहा करता है और जैसा ध्रुव तत्त्व है ज्ञायकस्वरूप चैतन्यभाव उस अनुकूल उसके परिणमन का यत्न रहता है। मात्र ज्ञाता दृष्टा रहे ऐसी उसकी परिणति भी इस पद्धति से ही चलती है। तो मोक्षमार्ग में जो सम्यग्ज्ञान कहा है, सम्यक्चारित्र बताया है उन उपयोगों की ओर उन स्वरूपाचरणों की उद्भूति तभी बन सकती है जब कि हमारी उस ध्रुव निज पदार्थ में रुचि हो और श्रद्धा हो, इस निज अन्तस्तत्त्व की रुचि और श्रद्धा से ज्ञान का विकास और स्वरूपाचरण की प्रगति में दृढ़ता हुआ करती है। अतएव इस सम्यग्दर्शन को संत पुरुषों ने चारित्र और ज्ञान का बीज कहा है। क्योंकि, सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक् चारित्र और सम्यग्ज्ञान होता ही नहीं है। यह सम्यग्दर्शन जैसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का बीज है इसी प्रकार यम और प्रसमभाव का जीवन है। हेय परिणतियों का त्याग करना और क्रोधादिक कषायों का उपशम होना ये दो महाकल्याण इस सम्यग्दर्शन की वृत्ति से जीवित रहते हैं। अपना आत्मा लाभ पाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना यम और प्रसम निर्जीव के समान हैं। जिसे दृष्टि निर्मल मिली है उसको यम से, प्रसम से और स्वध्याय आदिक सर्व चेष्टाओं से कल्याण का मार्ग मिलता है और मार्ग पर गमन भी उसका होता है। जिसे दृष्टि नहीं मिल सकी हो अपने अंतस्तत्त्व की तो उसका लक्ष्य ही कैसे बन सकता है कैवल्य का और फिर कैवल्य लाभ का यत्न भी कैसे चल सकेगा? यह सम्यग्दर्शन तप

और स्वाध्याय का आश्रय है । सम्यग्दर्शन के बिना तप और स्वाध्याय निराश्रय हैं । तपश्चरण के कर्तव्य का हम कहाँ पर योग बैठाएँ ? जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है वह तपश्चरण का प्रयोजन कहाँ थाम सकता है ? उसकी कल्पना में अनेक आलम्बन चलते रहेंगे । तो सम्यग्दर्शन तप और स्वाध्याय का आश्रय है । इसी तरह जितनी भी उपादेय प्रवृत्तियाँ हैं, इन्द्रिय का दमन, व्रतपालन उन सबकी सफलता सम्यग्दर्शन से है । सम्यग्दर्शन के बिना समस्त क्रियाकाण्ड भी मोक्षफल के दाता नहीं हो सकते, इस कारण ध्यान के अंगों में मुख्य अंग सम्यग्दर्शन को कहा है ।

### श्लोक-440

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम् ।

न पुनम् संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥४४०॥

**सम्यक्त्वशंसा** — चारित्र और विशिष्ट ज्ञान से च्युत हुआ भी सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय कहलाता है और सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र और ज्ञान मिथ्यात्व विष से दूषित होते हैं । सम्यग्दर्शन की महिमा कही जा रही है । किसी विशिष्ट कर्म के कारण ज्ञान का विस्तार और सम्यक्चारित्र का अभाव भी हो तो भी सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय है । अविरत सम्यग्दृष्टि के भी यद्यपि नियम नहीं है तो भी देव देवेन्द्र तक उनको मानते हैं और सम्यग्दर्शन न हो, और बाह्यज्ञान आगमानुकूल भी हो और आगमानुकूल चारित्र, व्रत, तप की क्रिया भी की जा रही हो तब भी एक सम्यग्दर्शन के बिना वे सब मिथ्यात्व विष से दूषित कहलाते हैं । यदि कोई अंदाज से भी किसी को सम्यग्दृष्टि मान सके और पूजे तो भी सम्यग्दर्शन की ही पूजा है ।

### श्लोक-441

अत्यल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।

प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजम् ॥४४१॥

**दृष्टिपूर्वक संयम से भवक्लेश का परिहार** — सम्यग्दर्शन से युक्त यम नियम तपश्चरण आदिक अत्यन्त अल्प भी हों तो भी सूत्रज्ञ पुरुषों ने, विद्वान योगी संतों ने संसार से उत्पन्न हुए क्लेश के समूहों की औषधि की तरह कहा है, अर्थात् सम्यग्दर्शन के होते हुए व्रत तपश्चरण आदिक अल्प भी होवें तो भी सांसारिक दुःखरूप रोगों को दूर करने के लिए औषधि के समान हैं । कोई-सा भी कार्य यदि विधि सहित किया जा सके और वह अक्षय ही किया जाये तो भी वह कार्य में शामिल है और बिना विधि के कितने भी कार्य करते चले जायें तो भी अन्त तक उलझन ही उलझन बनी रहती है । कोई पुरुष चतुर कारीगर

की प्रशंसा को और उसके लाभ को देखकर साधारण मजदूर यह सोच ले कि हम तो इतना बड़ा श्रम करते हैं बोझ ढोने का और यह बैठे ही बैठे हुकुम चलाता है, कुछ करता भी नहीं और यों ही बड़ा लाभ लेता है और इज्जत पाता है। हम तो इससे कई गुना भी काम कर सकते हैं। है क्या उसमें ? ईंट पर ईंट रख दी, बीच में गारा रख दी। यों ही वह मजदूर जोड़ने लगे तो बिना विधि का जो वह कार्य है वह तो उल्टन बढ़ायेगा, फिर मकान गिरा करके बनाना पड़ेगा तो उसमें तो उल्टन ही बनी। बिना विधि के कोई भी कार्य किया जाये वह विडम्बना रूप बनता है अतएव धीरता रखना और प्रत्येक कार्य को विवेक से और विधिवत् कार्य करना यह समझदार पुरुषों की प्रकृति होती है। सम्यग्दर्शन एक आन्तरिक प्रताप है। अतः यह श्रद्धा और ज्ञानप्रकाश बन रहा है जिसमें सबसे विविक्त चैतन्यमात्र निजस्वरूप को आत्मारूप ग्रहण किया जा रहा है। इस वृत्ति में परम पुरुषार्थ पड़ा हुआ है और यह प्रतपन और यह प्रताप यह स्वरूपाचरण कर्मों से छूटने की एक विधि है। यह विधि रहे और ज्ञानविस्तार सम्यक् आचरण रूप व्रत नियम आदिक रूप विशेष प्रगति की परिणति न हो तो भी यह सम्यग्दर्शन की दृष्टि कर्मों का विध्वंस करने में कारण बन रही है।

**सम्यक्त्व लाभ के अर्थ अनुरोध —** भैया ! श्रेयोलाभ के अर्थ सम्यक्त्व रत्न का आदर करें, और समता से अन्तःगुप्त ही रहकर स्वरक्षित रहकर अपने आपकी ओर अपने को अभिमुख रखकर सम्यग्दर्शन का लाभ लें, जिस सम्यग्दर्शन के प्रताप से संसार के संकट सदा के लिए छूट सकेंगे। उस सम्यग्दर्शन के न होने पर बड़े-बड़े व्रत यम नियम तपश्चरण भी किये जायें तो भी विश्राम कहाँ पाना है। विश्राम का स्वरूप क्या है ? जिसे इस तत्त्व का परिचय न हो वह कहाँ लगेगा ? वह व्यर्थ ही श्रम कर रहा है और विकल्पों का संताप भोग रहा है। उसे विश्राम नहीं मिल पाता। सम्यग्दर्शन के भाव में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि इस आत्मा को अपने आपमें विश्राम मिलता है। जैसे लोक में ही जिन पुरुषों की दृष्टि बाह्यपदार्थों के संचय में लौकिक इज्जत में रहती है उन्हें कभी विश्राम से बैठा हुआ क्या आपने कभी देखा है ? और जिनके वह समझ बनी है कि जो होता हो सो हो, उसमें मेरा क्या ? मैं तो सबसे ही जुदा अपने आपकी ही करतूत का जिम्मेदार हूँ, सबसे विविक्त ऐसी जिसकी बुद्धि हो वह यथा समय विश्राम भी पा लेता है। तब सम्यग्दर्शन की बात तो अद्भुत ही तथ्य है। जैसे बालक को कोई डाँटे पीटे, कुछ कड़ी नजर से निहारे तो वह दौड़कर माँ की गोद में बैठकर अपने को कृतार्थ समझ लेता है। अब संकट की बात क्या ? खतम हो गए उसके संकट। ऐसे ही संसार की नाना स्थितियों में उलझने, रमने, फिरने से जो एक सुविकल्पकृत और परचेष्टाकृत बाधाएँ हुई है यह ज्ञानी यदि एकदम उनसे मुख मोड़कर स्वानुभूति माँ की गोद में पहुँच जाये तो वह कृतार्थ हो जाता है, उसे अब संकट कहाँ रहा ? संकट तो यह माना जा रहा था कि मेरे पास धन नहीं है, मेरे पास धन खत्म हो गया है, लोग यों कहते हैं, इज्जत नहीं होती है, बुराई करते हैं, अपमान करते हैं। ये ही तो लोक में संकट मानें जाते हैं। यह ज्ञानी इन मायारूपों से, इन अहित बातों से, इन असार चेष्टाओं से मुख मोड़कर एक ज्ञानप्रकाशमय निज तत्त्व की ओर आये और इसकी शरण में पहुँचे तो बतावो उसके लिए कोई संकट रहा क्या ? सारा जगत्

भी विरुद्ध चेष्टा कर रहा हो लेकिन इस पर संकट है कहाँ ? यह तो अपने ज्ञानानुभव के आनन्द में लीन है । संकट मानने वाले संकट मानें । सम्यग्दर्शन अद्भुत प्रताप है ।

## श्लोक-442

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम् ।

यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥४४२॥

**विशुद्ध सम्यक्त्व से सहित आत्मा की पुण्यरूपता** — आचार्यदेव कह रहे हैं कि मैं तो ऐसा मानता हूँ कि निर्मल विशुद्ध निरितचार सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है वही महाभाग है क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का प्रधान अंग कहा गया है । मुक्ति के उपाय के लिए ही ध्यान किया जाता है । तो ध्यान में सफलता मिले इसलिए ध्यान का प्रधान अंग भी तो समझना चाहिए कि जिस उपाय का हम आलम्बन लें तो हमारा ध्यान सिद्ध हो और संसार संकटों से छुटकारा भी बने । यों ध्यान के प्रकरण में ध्यान की प्रायोगिक विधि में मोक्षमार्ग के विधान में सम्यग्दर्शन ही एक मुख्य उपाय है । लोग कहते हैं देखो भाई अपने पुत्र को शिक्षा देते हैं, देखो वत्स, भले का तो साथ करना, किन्तु जो भले नहीं हैं, दुष्ट हैं उनका संग करना । भले को तो देखना और दुष्टों की ओर तो निहारना भी नहीं । ऐसे ही सम्यग्दर्शन में यह शिक्षा भरी है । देखो भाई — सम्यक् का तो दर्शन करना, पर असम्यक् का दर्शन न करना, उसकी ओर निहारना भी नहीं । जो सहज विशुद्ध है, शाश्वत है, सर्वदोषों से दूर है वही तत्त्व सम्यक् है, उसका दर्शन करना यही सम्यग्दर्शन है और यही समृद्धि लाभ संकट मुक्ति का अमोघ उपाय है । अपने आपमें निहारो सबसे अधिक सम्यक् चीज क्या है, जिसमें रंच भी दोष न हो । इस आत्मा का जो सत्त्व है, स्वरूप है, लक्षण है उस लक्षण पर दृष्टि न दें तो यह कैसे दिखेगा एक चिदानन्द स्वरूप, इसमें विकार है तो यह केवल आत्मा की देन है । केवल आत्मा के स्वरूप को निहारो तो वह शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, सहज है, सहजसिद्ध है, सहज शुद्ध है । सहज सिद्ध तो यों है कि सिद्ध का अर्थ है निष्पन्न अस्तित्व से रचा गया । क्या यह जीव असिद्ध है ? जीव की ही बात नहीं करते । ये जो अनन्तानन्त परमाणु हैं क्या ये असिद्ध है ? क्या इनका अस्तित्व पूर्ण बन नहीं पाया ? क्या ये अधूरे हैं ? क्या अभी ये पूरे नहीं हो पाये है ? कोई भी पदार्थ अधूरा नहीं है, सब पूर्ण हैं । किसी की सत्ता आधी नहीं है। सब पूर्ण सत् हैं । तो अपने अस्तित्व से निर्वृत रहने का नाम है सिद्ध । कर्मक्षय की बात नहीं कह रहे हैं, सहजसिद्ध की बात कह रहे हैं । ऐसा यह आत्मा कब से सिद्ध है ? अर्थात् मात्र अपने स्वरूप से रचा हुआ यह कब से है ? अरे जब से यह आत्मा है तब से ही है । इसका नाम सहज है । सह मायने साथ, ज मायने उत्पन्न होना । जब से आत्मा है तब से ही इसके साथ इसका यह स्वरूप है । तो केवल आत्मा के स्वरूप में कोई दोष नहीं है । लक्षण इसका केवल एक चित्स्वरूप है, वह ही सम्यक् है, सर्वोपरि सम्यक् है । किसी रागद्वेष के

प्रयोजन से देश जाति समाज आदिक में मेरे-तेरे विकल्प का होना यह परमार्थ से कुछ तथ्य तो नहीं रखता । इस आत्मा का तो प्रताप समस्त लोक में है, उसमें से किसी छोटे क्षेत्र में अपना सर्वस्व मान लेना यह तो आत्मा का स्वरूप नहीं है । इससे भी और विशुद्ध तथ्य की ओर आये । शरीर वैभव, देश, जाति, समाज, वातावरण बर्ताव इन सबसे भी विविक्त निर्दोष शुद्ध स्वरूप की ओर आये । जो यह अंतस्तत्व सम्यक् है उसका दर्शन हो जाने का नाम है सम्यग्दर्शन । यह मुक्ति का प्रधान अङ्ग है ।

### श्लोक-443

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः ।

अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनदर्शनं विना ॥४४३॥

**सम्यक्त्व के बिना मोक्षलाभ की असंभवता** — इस जगत् में जो आत्मा चरित्र और ज्ञान के कारण जगत् में प्रसिद्ध है वे भी सम्यक्त्व के बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं करते । लोक में जो कोई महापुरुष भी कहे जाते हों ज्ञान से, धर्म से, आचरण से, परोपकार से यहाँ के उत्कृष्ट नेता भी हों, प्रजाजन जिनको बड़े चाव से चाहते भी हों, उनकी महनीयता भी हो तो भी रही आये महनीयता, वह तो कुछ दिन की बात है । आत्मा के कल्याणभूत मोक्षतत्त्व को वे भी सम्यग्दर्शन के बिना पा न सकेंगे । सम्यक्त्व ही इस जीव का उद्धारक है । अपने आप में अपने आपका सुल्झेरा कर लेना बस यही एक अपने उद्धार की बात है । जगत् के बाह्य पदार्थों से क्या हिसाब लगाना, मैं बड़ा हुआ कि नहीं हुआ । बाह्य में दृष्टि पसारकर क्या हिसाब देखना ? अपने ही आपमें अपनी दृष्टि रखकर अपना हिसाब देखना चाहिए । अपने आपके परिचय बिना और अपने आपके अनुभव बिना विशुद्ध आनन्द तो नहीं जग सकता । और वास्तविक स्वतंत्रता की भी झलक नहीं ली जा सकती है । एक निर्विकल्प भाव में ही सर्वकल्याण निहित है ।

### श्लोक-444

अतुलसुखनिदानं सर्वकल्याणबीजं

जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।

दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं

पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥४४४॥

**सम्यक्त्वसुधा रसपान का आदेश** — हे भव्य जीव ! एक इस सम्यग्दर्शन नामक अमृत का पान करो । यह सम्यक्त्व ही अतुल आनन्द का निधान है । आनन्द के लाभ के लिए जगह-जगह दृष्टियाँ लगाते हो,

पर बाह्य में कहीं भी आनन्द का लाभ न मिलेगा । अतुल आनन्द का निधान तो यह सम्यग्दर्शन है । अपने आपके सहजस्वरूप का सम्यक् रूप से अनुभवन कर लेना यही अनुपम आनन्द का बीजभूत है । सर्वकल्याण का यह सम्यग्दर्शन बीज है । जैसे बीज से अंकुर उत्पन्न होता है और वह अनेक फलों को प्रदान करता है इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन आनन्दअंकुर को उत्पन्न करता है और इसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति समस्त आत्मसमृद्धि के फल फला करते हैं । यह सम्यग्दर्शन संसाररूपी समुद्र से तिरने के लिए जहाज की तरह है । जैसे नाव में बैठकर सागर से तिर लिया जाता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भाव में स्थित होकर इस संसार-सागर को पार कर लिया जाता है । इस सम्यग्दर्शन के पात्र एकमात्र भव्य जीव ही हैं । जिनका निकट कल्याण स्वरूप होनहार है वे ही इस सम्यग्दर्शन के अधिकारी होते हैं । सम्यग्दर्शन का परिणाम पापरूपी वृक्ष को मूल से उखाड़ फेंकने में कुठार की तरह है, जैसे लोग देवी के दो रूप माना करते हैं एक चन्द्ररूप और एक शान्तिरूप, ज्ञानरूप एक लौकिक कहावत सी है । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के दो रूप देखिये । एक तो प्रचण्ड प्रतापरूप समस्त पाप बैरियों को ध्वस्त कर देने में बहुत समर्थ है और एक शान्तिरूप सहज आनन्द को देने वाला है, सर्वकल्याण का बीज है और शान्ति को ही सरसाने वाला है । यह सम्यग्दर्शन समस्त पवित्र तीर्थों में प्रधान है । सम्यग्दर्शन एक प्रधान तीर्थ है । तीर्थ कहते हैं उस तट को जिस तट पर पहुँचने से पार हुआ समझ लिया जाता है । यह सम्यग्दर्शन निर्भयता भरपूर है, क्योंकि इसने मिथ्यात्वरूपी समस्त विपक्षों को जीत लिया है । ऐसे सम्यग्दर्शन को हे भव्य जीव ! ग्रहण करो । इस सम्यक्त्व की दृष्टिरूप अमृतजल का पान करो । यहाँ के व्यर्थ मोह रागद्वेष भावों में बसकर अपने आपको मलिन मत करो । ज्ञान सम्यक्त्व का सहारा लो । अपने आपकी महिमा का ध्यान करो । सम्यग्दर्शन ध्यान और कल्याण का एक मुख्य अंग है ।

## श्लोक-445

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।

यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥४४५॥

**ज्ञानियों का ज्ञान** — जिसमें तीनकाल के विषयभूत अन्य गुण पर्यायों सहित पदार्थ अतिशयता के साथ स्पष्ट रूप से प्रतिभास हो रहे हैं उसको ज्ञानी पुरुषों का ज्ञान माना गया है । ज्ञान ने यह शुद्ध विकास का वर्णन किया है । ज्ञान तो निर्दोष परिपूर्ण यथार्थ वही है जिस ज्ञान में समस्त सत् एक साथ प्रतिभास होता हो । ज्ञान का काम जानना है । सामने रहने वाली चीज को जानना यह प्रकृति नहीं है, किन्तु जो सत् है उसको जानना यह जानन सबका स्वभाव है । वर्तमान में कोई सत् है उसे जानना यह जानने का स्वभाव नहीं, किन्तु सत् का किसी भी काल में सम्बन्ध हो उस समस्त सत् को जानने का ज्ञान में स्वभाव है और इसी कारण ज्ञान में सीमा नहीं होती । किन्तु, सीमा तो बन रही है सब की । कोई वर्तमान को ही जान पाता है और वह भी सम्मुख रहने वाले पदार्थों को ही जान पाता है । इतनी कैद इतनी सीमा

जो ज्ञान में बन रही है, वह ज्ञान अथवा ज्ञान के आधारभूत आत्मा की ओर से नहीं बन रही है किन्तु उस प्रकार के आवरण का उदय है इस कारण ज्ञान में अपूर्णता है। ज्ञान की अपूर्णता दिखाना ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान के स्वरूप में सीमा दिखाई जाये तो ज्ञान का स्वरूप सही नहीं उतरता है, समस्त पदार्थ अनन्तानन्त हैं। अनन्त जीव हैं, अनन्त पुद्गलद्रव्य हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अर्धमद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और अंसख्यात कालद्रव्य। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु ठहरे हुए हैं। इन समस्त अनन्तानन्त द्रव्यों के अनन्तानन्त ही पर्याय भेद हो गए। अनन्त पर्यायें भविष्य में होंगी और प्रतिसमय वर्तमान एक-एक पर्याय होती ही है। उन समस्त द्रव्य गुण पर्यायों को एक साथ जानने वाला पूर्णज्ञान आत्मा का निश्चयस्वभाव है। ज्ञान में जो भेद पड़े हुए हैं वे कर्म के निमित्त से भेद पड़े हुए हैं। आत्मा के स्वभाव की ओर से ज्ञान में भेद नहीं पड़े हैं।

## श्लोक-446

ध्रौव्यादिकलितैर्भावैर्निर्भरं कलितं जगत् ।

बिम्बितं युगपद्यत्र तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥४४६॥

**योगियों का लोचन** — यह सारा जगत् उत्पादव्ययध्रौव्य इन तीन भागों से भरा हुआ है। ऐसा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक यह समस्त जगत् जिस ज्ञान में एक साथ प्रतिबिम्बित हो वही ज्ञान योगीश्वरों के नेत्र के समान है। कभी कोई योगी अपनी धारणा के अनुसार कैसे ही ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान तो वही है जो त्रितयात्मक समस्त जगत् को एक साथ प्रतिबिम्बित कर लेता है। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। सभी पदार्थ अपने इस सत्त्वस्वरूप के कारण प्रति समय परिणमित होते रहते हैं। किसी में ऐसी अपूर्णता नहीं है कि उसमें उत्पाद अथवा व्यय किसी दूसरे पदार्थ से लाना पड़े, ऐसा अधूरापन किसी भी पदार्थ में नहीं है। जब कभी किसी परपदार्थ का निमित्त पाकर कोई पदार्थ विभावरूप परिणमता है उस समय भी निमित्त से उत्पादव्यय आधार लेकर या मँगाकर अपना उत्पादव्यय करता हो ऐसा नहीं है, किन्तु, पदार्थ का स्वरूप ही ऐसा है कि वह कब किस प्रसंग में किस निमित्त को पाकर किस रूप परिणम जाये, यह सब उपादान में योग्यता पड़ी हुई है। जब यों समस्त पदार्थों का स्वरूप है तब फिर कौन किसका स्वामी है? किसी पदार्थ का अपने को स्वामी मानना यह भ्रम और अज्ञान की बात है। इस कल्पना में अन्त में संकट ही मिलेगा, कुछ नहीं मिल सकता। भले ही कुछ समर्थ है, इस कारण परिजनों में मोह कर लिया जाये और दूसरे पुरुषों को गैर मान लिया जाये, भले ही ऐसी उददणता मचा ली जाये, किन्तु भविष्य इसका अच्छा नहीं है। शुद्ध ज्ञान का उपयोग रखना, अपने को समस्त जग से विविक्त निहारना, ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपका अनुभवन करना यह तो है विवेक की बात और उत्तम भविष्य होने की बात। इसके विरुद्ध जो पर का आर्कषण, पर को आत्मीय

मानना ये सब भ्रमजाल हैं । पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ विज्ञान मोहान्धकार को नष्ट करने का कारण है, इस कारण यथार्थ ज्ञान का प्रताप सूर्य से भी बढ़कर है । इस लोक में कुछ मायाजाल में फँसकर किसी को प्रसन्न करने के लिए, किसी को अपनी कुछ महत्ता बताने के लिए कुछ विकल्प कर लिए जाये और दुःखभरे परिणाम बना लिए जाये इससे हे आत्मन् ! तुम्हारी कौन-सी सिद्धि है ? भ्रान्त ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है किन्तु सर्वपदार्थों के उनके उनमें ही उत्पादव्ययध्रौव्य सत्तंत्रता निरखने वाला ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है । वस्तु की स्वतंत्रता निहारने का प्रेमी होना चाहिए । अनादिकाल से इस जीव ने परपदार्थों में कितनी आत्मीयता की, परपदार्थों से कितना सम्बन्ध माना, कितना किया यही-यही तो किया । इतने बड़े विकट रोग को नष्ट करने की जो स्वतंत्रस्वरूप को निहारने की औषधि है, वह कितनी मात्रा में देना चाहिए ? अनादिकाल के बसे हुए सम्बन्ध मानने के रोग को मिटाने के लिए स्वतंत्रता की कितनी दृष्टि बनाना है विचार तो करिये । किसी पक्ष में, खण्डन में, विरोध में, अपनी नामवरी में समय बिताने से आत्मा में कोई अतिशय उत्पन्न होगा क्या ? अरे खुद दुखिया हैं, अपने आपके दुःख के निवारण करने की युक्ति तो बना लें । कोई मददगार नहीं है । जैसे परिजन में जिनके लिए पाप किया रहा है वे कोई मददगार नहीं होते, इसी प्रकार नामवरी उत्पन्न करने के क्षेत्र में जिनको अपनी नामवरी का साधकतम बनाया है वे सब इस जीव के साथी न बनेंगे । प्रत्येक पदार्थ अपने ही उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप से परिणमता है, अपनी भलाई कर लो, अपने शुद्ध ज्ञान का प्रयत्न कर लो । सम्यग्ज्ञान वही है जिस ज्ञान में उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक समस्त पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं ।

## श्लोक-447

मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् ।

तदित्थं सान्वयैर्भेदैः पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥४४७॥

ज्ञान के विकास प्रकार — ज्ञान ५ प्रकार का माना गया है — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । कर्मउपाधि के निमित्त से कहीं ज्ञानावरण का क्षयोपशम है, किस ही रूप में उदय है अथवा कहीं क्षय है, इन सब उपाधियों की अवस्था विशेष के निमित्त से ज्ञान में ये ५ भेद पड़ गये हैं । परमार्थतः ज्ञानमात्र में कोई भेद नहीं है । यह भी कहा कि कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है, कोई ज्ञान परोक्ष है, ज्ञान के स्वरूप की ओर से भेद नहीं है । जो ज्ञान आगम शास्त्र का आलम्बन लेकर जानकारी बनाता है उस ज्ञान में और जो ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, केवल आत्मा के द्वारा ही जानकारी बनाता है, जानकारी के अंश में जानकारी के स्वरूप की दृष्टि से दोनों ज्ञानों में अन्तर नहीं है, किन्तु जब जानकारी के क्षेत्र से बाहर किसी बात का निर्णय करने चलते हैं तो वहाँ भेद पड़ जाता है । ज्ञान का स्वरूप तो केवल प्रतिभास प्रकाश है, वह सभी ज्ञानों में पड़ा हुआ है । ज्ञानों में मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान का भेद

नहीं बसा हुआ है । ज्ञान का स्वरूप तो जानन मात्र है । ज्ञान के साथ जो मोह का उदय चल रहा है उसके कारण ज्ञान में मिथ्याज्ञान का व्यपदेश होने लगता है । ज्ञान का काम तो जानन मात्र है, प्रकाश करने का काम तो प्रकाश मात्र है । हरी रोशनी बना देना, नीली रोशनी बना देना प्रकाश का काम नहीं है । उस प्रकाश के साथ कोई उपाधि लगी है, चाहे काँच में ही रंग लगा हो, चाहे उसके ऊपर हरा पीला कागज लगा हो, कुछ भी किया गया हो, उपाधि के भेद से प्रकाश में भेद हो जायेगा, किन्तु प्रकाश के स्वरूप की दृष्टि से ज्ञानों में भेद नहीं होता है, इस ही प्रकार ज्ञान के स्वरूप की दृष्टि से ज्ञानों में भेद नहीं होता है किन्तु आवरण मोह उपाधि आदिक के भेद से ज्ञान में सम्यक् मिथ्या आदिक के भेद बता दिये जाते हैं । ज्ञान तो परमार्थतः एक स्वरूप है । जो पुरुष द्वैत की ओर रुचि रखते हैं उनको द्वैत ही द्वैत मिलता रहता है, जो पुरुष अद्वैत की रुचि रखते हैं उनको निज में कोई अद्वैत की कल्याण की चीज प्राप्त होती है । यद्यपि जगत् में सभी पदार्थ हैं और उनका व्यवहार से परिचय होता है । लेकिन नानारूप उपयोग बनाने में, भरमाने में वास्तविक श्रेय नहीं प्राप्त हो सकता । अपने को एक स्वभावी अद्वैतरूप अखण्ड सामान्य स्वरूप निर्विकल्प अभेद अनुभव करने से ही विशिष्ट श्रेय की प्राप्ति होती है ।

## श्लोक-448

अवग्रहादिभिर्भेदैर्बह्वाद्यन्तर्भवेः परैः ।

षट्त्रिंशत्प्रतिशतं प्राहुर्मतिज्ञानं प्रपञ्चतः ॥४४८॥

**मतिज्ञान का विवरण** — अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा बहुविधि आदिक १२ प्रकार इन सबके विस्तार करने से मतिज्ञान ३३६ प्रकार का हो जाता है । हम आप सब को ५ इन्द्रिय और एक मन के द्वारा जो कुछ ज्ञान होता है वह सब मतिज्ञान है । और उस मतिज्ञान के होने के बाद उस पदार्थ में जो और कुछ विशेष बोध होता है वह श्रुतज्ञान है । मतिज्ञान में सबसे पहिले जो ज्ञान हुआ है, एक ही ज्ञान की बात कह रहे हैं — पहिले अवग्रह हुआ है । एक प्रकार का जिस कार्य का संकल्प होता है उसकी भाँति में ज्ञान का प्रारम्भ हुआ है । उसके पश्चात् उस ज्ञान में विशेष जानने की वृत्ति होती है और उस वृत्ति में जैसा वह पदार्थ है तैसे ही जानने की वृत्ति जगे तो वह ईहा ज्ञान है, उसके बाद उस ही ज्ञान में जो निश्चयात्मक एवकार लगाकर ज्ञान बनता है वह अवाय ज्ञान है । और फिर उस ज्ञान की बात कभी भी न भूलना यह धारणा ज्ञान है । कुछ भी जानते समय है, यह है, यही है, इस प्रकार की तीन दृढ़ता की डिग्रियाँ बनती हैं, वही है अवग्रह ईहा और अवाय । फिर उस ज्ञान विशेष को न भूल सकना ऐसी जो धारणा होती है वह है धारणा । ये चार प्रकार के ज्ञान ५ इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होते हैं । किन्तु अवग्रह में जो एक भेद व्यञ्जनावग्रह का है अर्थात् कुछ जानकारी करने के बाद फिर उसके आगे सिल्लिसला न चले, वहीं खत्म हो जाये, ऐसी कमजोरी का नाम है व्यञ्जनावग्रह । व्यञ्जनावग्रह नेत्र और

मन से उत्पन्न नहीं होता, इसका कारण भी हम आपकी समझ में स्पष्ट हो जायेगा कि आँखों से जो हम जानते हैं वह एकदम स्पष्ट जान लेते हैं, तभी तो लोग कहते हैं कि तुमने कानों सुना या आँखों देखी ? आँखों देखे का बहुत महत्व लोग देते हैं, क्योंकि उसमें स्पष्ट बोध होता है । ऐसे ही मन की बात है । मन और नेत्र में जो ज्ञान होता है वह व्यञ्जनावग्रह नहीं है । तो व्यञ्जनावग्रह चार साधनों से हुआ और अवग्रह, ईहा, अवाय आदि ६ साधारण ज्ञानों से हुआ ।  $६ \times ४ = २४ + ४ = २८$  यों २८ प्रकार के ज्ञान १२ प्रकार के पदार्थों के होते हैं — बहुत पदार्थों का बहुत प्रकार के पदार्थों का शीघ्र ज्ञान और विलम्ब से ज्ञान, एक का ज्ञान, एक प्रकार का ज्ञान, प्रकट निकले हुए का ज्ञान, गुप्त छिपे हुए का ज्ञान, एकदम स्पष्ट कहते हुए का ज्ञान और एक अस्पष्ट अनियत का ज्ञान । एक ध्रुव पदार्थ का ज्ञान एक अध्रुव पदार्थ का ज्ञान, यों २८ प्रकार के ज्ञान बारह-बारह प्रकार के होते हैं । इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ प्रकार हैं ।

## श्लोक-449

प्रसृतं बहुधाऽनेकैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।

स्याच्छब्दलाञ्छितं तद्धि श्रुतज्ञानमनेकथा ॥४४९॥

**श्रुतज्ञान का वर्णन** — श्रुतज्ञान ११ अंग १४ पूर्व और १४ प्रवीर्ण अर्थात् अंग बाह्य इनके भेदों से बहुत प्रकार के भेद वाला है । जिसे श्रुतज्ञान कहो, आगमज्ञान कहो । इन सब ज्ञानों में स्यात् शब्द का चिन्ह पड़ा हुआ है । किसी अपेक्षा से ऐसा है, इस अपेक्षा से ऐसा है, यों अपेक्षा लगाकर ज्ञान की बात का प्रकाश करना यह है स्यात्वाद । स्यात् शब्द संस्कृत में है उसका अर्थ है अपेक्षा से । लेकिन हिन्दी उर्दू में एक शब्द है 'सायद' । यह शब्द बड़ा प्रसिद्ध है । तो सकल सूरत से स्यात् शब्द की सदृशता 'सायद' शब्द में मिली । कुछ लोग स्यात् का सायद अर्थ लगाकर एकदम संसयवाद जैसी सकल स्यात्वाद बना देने हैं । जैसे कहा तो यों जाता कि जीव स्यात् नित्य ही है, जीव स्यात् अनित्य ही है, जिसका अर्थ तो यह है द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से जीव नित्य ही है, पर्यायदृष्टि की अपेक्षा में जीव अनित्य ही है । लेकिन स्यात् का अर्थ सायद करके अपने आपको ठगना और दूसरों को भी परेशानी में डालना यह ही बनता है । तो विरुद्ध अभिप्राय के लोग यों अर्थ लगाते हैं सायद जीव नित्य है, सायद जीव अनित्य है । इसमें कोई निश्चय नहीं है ऐसी प्रसिद्धि करते हैं । स्यात्वाद में इतनी दृढ़ता के साथ निश्चय की बात कही जाती है जिसमें शिथिलता और संशय का रंच भी स्थान नहीं है । स्यात् नित्यः अस्ति इसका अर्थ है — जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य ही है, संशय का रंच स्थान नहीं है और न शिथिलता की बात है । किसी पुरुष के सम्बंध में यदि यह कहा जाये कि यह अमुकचन्द का ही पुत्र ही है और अमुकप्रसाद का पिता ही है निश्चय हुआ या संशय ? इसमें निश्चय हुआ । दृष्टि लगाकर पूर्ण निश्चय के साथ बताने का नाम स्यात् वाद है । स्यात्वाद में भी शब्द का प्रयोग नहीं है । जैसे कि लोग भी शब्द करके प्रसिद्ध करते हैं । जीव नित्य भी है जीव अनित्य भी है । भी जैसी शिथिलता का स्थान नहीं है स्यात्वाद में किन्तु जीव द्रव्यदृष्टि

से नित्य ही है, ही का स्थान है । निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण होता है । अनिश्चय ढीलपोल वाला ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता । हाँ जो लोग दृष्टियों से अपरिचित हैं उनके समक्ष यदि भी लगाकर भी कहा जाये तो जानने वाले भी के साथ जानें तो गलत है । भी लगाकर बोलने पर भी कहने वाले और सुनने वाले को ही लगाकर समझना चाहिए । नित्य भी है इसका अर्थ यों समझना कि द्रव्यदृष्टि से ही नित्य ही है, इसके अलावा दूसरी भी बात है । और, वह बात है — पर्यायदृष्टि से अनित्य ही है । यों स्यात् शब्द करके जो बसा हुआ ज्ञान है आगम का वह सब श्रुतज्ञान है ।

## श्लोक-450

देवनारकयोर्ज्ञेयस्त्ववधिर्भवसम्भवः ।

षड्विकल्पश्च शेषाणां क्षयोपशमलक्षणः ॥४५०॥

अवधिज्ञान का प्रकाश और उसके प्रकार — ज्ञान के ५ भेद कहे गए हैं — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का तो वर्णन किया, अब अवधिज्ञान का वर्णन कर रहे हैं । अवधि शब्द का अर्थ है मर्यादा । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लेकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । यद्यपि मर्यादा मनःपर्याय में भी है किन्तु रुढ़िवश इसका नाम अवधिज्ञान है । अवधिज्ञान के पहिले से जितने ज्ञान हैं उन सबमें मर्यादा पड़ी हुई है, अवधिज्ञान के बाद का ज्ञान केवलज्ञान है, उसमें मर्यादा नहीं पड़ी है । इस दृष्टि से ५ ज्ञानों का नं. यों आ गया — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान । अवधिज्ञान और अवधिज्ञान के पहिले से जितने ज्ञान हैं वे सब मर्यादासहित हैं और अवधिज्ञान के बाद का ज्ञान असीम है । इस दृष्टि से ऐसा नम्बर होने पर भी चूँकि मनःपर्ययज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होता, संयमी के ही होता पूज्यता विशेष । केवलज्ञान के बाद ज्ञानी में पूज्यता मनःपर्ययज्ञान की है, इस कारण मनःपर्ययज्ञान का नम्बर तीसरे से हटाकर चौथे नम्बर पर किया है । इस तरह की व्यवस्था इस दृष्टि से बनी है । अवधि का अर्थ है मर्यादा । अवधिज्ञान में एक खासियत यह भी है कि जानता तो है यह चारों ओर की बातें किन्तु नीचे का क्षेत्र ज्यादा होता है, ऊपर का क्षेत्र कम होता है । अवधिज्ञानी जीव जितना ऊपर की चीज जानेगा उससे कई गुनी नीचे की चीज जानेगा । यह अवधिज्ञान में एक प्रकृति पड़ी हुई है । अवधिज्ञान के दो भेद हैं — भवप्रत्यय और लब्धिप्रत्यय । भवप्रत्यय का अर्थ है उस भव को पाकर नियम से अवधिज्ञान हो उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं । और, लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान उसे कहते हैं कि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम पाकर इस योग्यता के ही कारण जो ज्ञान होता है वह लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान है । यद्यपि भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी भवप्रत्यय अवधिज्ञान चाहिए । अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हुए बिना अवधिज्ञान होता नहीं है, किन्तु देव और नारकियों का भव उन्हें ही मिलता है जिनके अवधिज्ञानावरण का

क्षयोपशम भी हो जाता है । अथवा उस भव में जन्म लेने वाले जीव की एक यह विशेषता है कि अवधिज्ञानावरण का भी क्षयोपशम उसके होता है । तो लब्धिप्रत्ययमात्र से अवधिज्ञान हो उसकी अपेक्षा भवप्रत्यय में एक भव की विशेषता भी पायी गई, अतएव लब्धिप्रत्यय की दोनों जगह समानता होने से भव की खासियत की प्रधानता से भवप्रत्यय नाम रखा है । भवप्रत्यय अवधिज्ञान विशेष अधिक विशुद्धि को लिए हुए नहीं होता । परमावधि, सर्वावधि जैसा ज्ञान जिसके प्राप्त होने पर उसी भव से नियम से मुक्त हो जाता है वह लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान ही है । भवप्रत्यय अवधिज्ञान में उतनी उत्कृष्टता नहीं होती । भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है और लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान शेष जीवों के होता है अर्थात् संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों और मनुष्यों के होता है ।

**लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान के प्रकार** — लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान के ६ भेद हैं — अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अनवस्थित, अवस्थित । जिस भव में अवधिज्ञान हुआ है या जिस क्षेत्र में जिस स्थान पर अवधिज्ञान हुआ है उस भव के त्यागने के बाद भी उस स्थान से हटने के बाद भी अवधिज्ञान बना रहे ऐसे अवधिज्ञान को अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं । और क्षेत्रान्तर में अवधिज्ञान मिट जाये ऐसे अवधिज्ञान को अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं । जिस डिग्री में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है उससे बढ़ता ही जाये उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं और जिस डिग्री में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है उससे घटता ही जाये उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं । और जितने रूप में अवधिज्ञान प्रकट हुआ है उतने में ही रहा करे उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं और जो कभी घटे कभी बढ़े उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं । इस प्रकार लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान के ६ भेद हैं । सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में प्रयोजनीभूत तो वस्तुस्वरूप का ज्ञान है, भेदविज्ञान है, तत्त्वज्ञान है फिर भी किसी भी ज्ञान की विशदता के लिए अनेक प्रकार के सम्बन्धित ज्ञान भी हों तो उसमें स्पष्टता विशेष होती है । अधिक जानकर पुरुष छोटी से छोटी चीज का भी ज्ञान रखता है और कम जानकार पुरुष भी अपने प्रयोजन की बात का ज्ञान रखता है, फिर भी उन दोनों के ज्ञान की विशदता में अन्तर है । ज्ञान कैसे होते, कितने होते, इसका स्वरूप, इसकी परिस्थितियाँ विज्ञात हों तो प्रयोजनीभूत ज्ञान की विशदता भी विशेष होती है, अतएव ये सब भेद प्रभेद यहाँ कहे जा रहे हैं ।

## श्लोक-451

ऋजुर्विपुल इत्येवं स्यान्मनःपर्ययो द्विधा ।

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषोऽवगम्यताम् ॥४५१॥

**मनःपर्ययज्ञान का विकास** — चौथे ज्ञान का नाम है मनःपर्ययज्ञान । दूसरे मन की बात को विकल्प को जान जाना सो मनःपर्ययज्ञान है । ये दो प्रकार के होते हैं एक ऋजुमति, दूसरा विपुलमति । दूसरा कोई पुरुष कोई सरल बात सरलता से मन में सोच रहा है उसे जाने तो वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है । कोई

पुरुष बड़े मायाचार से, बड़े गुप्त ढंग से कुछ भी सोच रहा है अथवा अच्छा सोच पाया, या पहिले सोचा था या आगे सोचेगा, उन सब विकल्पों को जो जान लेता है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है । विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में विशुद्धि विशेष है और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान नियम से उस ही भव से मोक्ष प्राप्त करता है । केवलज्ञान होने पर ही मनःपर्ययज्ञान छूटता है इससे पहिले नहीं ।

## श्लोक-452

अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम् ।

अनन्तमेकमत्यक्षं तद्विशेषोऽवगम्यताम् ॥४५२॥

**केवलज्ञान की विश्वलोचनरूपता** — जो समस्त द्रव्य और पर्यायों को जानने वाला है, समस्त जगत् का लोचन है, अनन्त है, एक है अतीन्द्रिय है उस ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं । केवल का अर्थ है मात्र वही वही, जिसके साथ दूसरे पदार्थ का अथवा परभाव का सम्बंध न हो उसे कहते हैं केवल । जो समस्त द्रव्यों और पर्यायों को जानता है वह केवलज्ञान है । ज्ञान यदि केवल रह जाये, उसके साथ कोई उपाधि और आवरण न रहे तो उसकी ऐसी विशेषता है कि वह ज्ञान समस्त सत् को जानने वाला हो जाता है । इसी कारण केवलज्ञान का अर्थ सबको जानने वाला प्रसिद्ध हो गया । शब्द का अर्थ तो यह है कि केवल ज्ञान-ज्ञान रह गया, अन्य कोई उपाधि या कलंक नहीं रहा, किन्तु निष्कलंक निरुपाधि ज्ञान में चूँकि ज्ञानस्वभाव तो है ही, तो वह जानेगा और कितना जानेगा जो सत् हो उस सबको जानेगा । अतएव केवल ज्ञान सर्व ज्ञान को कहते हैं । केवलज्ञान अविनाशी है, इसका कभी विनाश नहीं होता । केवलज्ञान मिटकर कहीं और प्रकार के ज्ञान हो जायें ऐसा अब कभी न होगा । यह अतीन्द्रिय है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की तरह इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होता । यह केवल आत्मा, को ही जानता है । वह केवलज्ञान है, सकल प्रत्यक्ष है । आत्मा वस्तु के यर्थाथस्वरूप को जाने और यर्थाथ जानकर भेदविज्ञान को दृढ़ करे और भेदविज्ञान के फल में अपने आपके अभेदस्वरूप का ज्ञान करे तो इस परमपुरुषार्थ के फल में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट बात क्या होती है वह है केवलज्ञान । एक अद्वैत सहज निज चित्स्वभाव के ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है कि यह उत्तरोत्तर विकसित हो होकर अन्तिम अवस्था केवलज्ञान की प्राप्त करता है ।

## श्लोक-453

कल्पनातीतमभ्रान्तं स्परार्थावभासकम् ।

जगज्ज्योतिरसदिग्धमनन्तं सर्वदोदितम् ॥४५३॥

**केवलज्ञान की परमज्योतिरूपता** — केवलज्ञान कल्पनातीत है, अर्थात् न तो केवलज्ञान को कोई अपनी कल्पना में माप सकता है, न स्पष्ट जान सकता है, हाँ उसका अंदाज युक्ति अनुमान कर सकता है, पर जैसे किसी बात के लिए पूछा जाता कि साफ स्पष्ट बतावो — इस प्रकार केवलज्ञान किस तरह से जानता है, यह कल्पना में स्पष्ट नहीं आता, क्योंकि छद्मस्त अवस्था में और जिज्ञासु अथवा इच्छावान पुरुषों के लिए केवलज्ञान का विषयज्ञान में परोक्षरूप से ही तो आयेगा । और, यह केवलज्ञान कल्पनातीत है । केवलज्ञान किसी भी पदार्थ को जानने में किसी प्रकार की कल्पना नहीं उठाता है । अपने ज्ञानस्वभाव से समस्त सत् एक साथ ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं ऐसा ज्ञान का स्वभाव और प्रताप है । केवल स्व और पर दोनों अवभासक हैं । केवलज्ञान के द्वारा यह केवलज्ञानी परमात्मा स्वयं विदित ज्ञानानुभूत होता रहता है और समस्त बाह्य सत् भी ज्ञेयाकाररूप परिणमते रहते हैं अर्थात् उन सबका भी जानना चलता रहता है । यह केवलज्ञान संदेहरहित स्पष्ट जानता है । ज्ञानस्वभाव के कारण ज्ञानी आत्मा जानता है इसे विषय सन्मुख चाहिए इसकी अपेक्षा नहीं है । आवरण होने पर ही अनेक अधीनताएँ होती हैं, निरावरण ज्ञान में अभिमुखता की अपेक्षा नहीं है और इन्द्रिय न होने के कारण कोई नियंत्रण नियमितता भी नहीं है । स्वच्छन्द होकर एकदम समस्त सत् को जानने वाला केवलज्ञान होता है । केवलज्ञान निर्विकल्प है, और मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी निर्विकल्पज्ञान है । केवल श्रुतज्ञान सविकल्पज्ञान है । कल्पनाएँ उठाना यह सब श्रुतज्ञान की देन है, मतिज्ञान में कल्पनाएँ नहीं उठतीं, किन्तु जो है उसे जान भर लेता है । जैसे आँखें खोलने के बाद कोई रूप दिखा तो रूप का ज्ञान हो जाना यह कितनी जल्दी होता है और तुरन्त बाद कितनी जल्दी श्रुतज्ञान आ जाता है । इसे आप यों समझिये कि जैसे ही जाना रूप को तो मतिज्ञान हुआ और जैसे ही समझ में यह बैठा कि यह सफेद है बस श्रुतज्ञान हो गया । अब किसी चीज को देखकर सफेद हरी आदिक रंग की कल्पना होती है उससे पहिले इस कल्पना के बिना जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है, हमारा निर्विकल्प ज्ञान है । मतिज्ञान में जैसा जो रूप है वही जानने में आता है किन्तु यह हरा है, पीला है इस प्रकार की कल्पना मतिज्ञान में नहीं बसी हुई है । ऐसे ही अवधिज्ञान जान लेता है अपने विषय को पर कल्पना नहीं करता । जो पुरुष किसी अवधिज्ञानी से अपना भव पूछे तो वह अवधिज्ञान जोड़कर, अवधिज्ञान से जानकर बताता तो है किन्तु बताने का काम अवधिज्ञान नहीं करता । मतिज्ञान की तरह अवधिज्ञान से भी निर्विकल्परूप अपने विषय को जान लिया । अब उस जानते हुए पदार्थ में स्मरण करके, कल्पनाएँ करके श्रुतज्ञान से जानकर फिर प्रतिपादन किया जाता है, यही बात मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान में निर्विकल्पता तो है ही । प्रतिपादन की भी बात नहीं होती । केवल संयोग केवली गुणस्थान में भव्य जीवों के भाग और योग के संयोग से दिव्यध्वनि खिरती है, पर कल्पनायुक्त क्रम पूर्वक प्रतिपादन करने की शैली से भगवान का उपदेश नहीं होता । यों केवलज्ञान संदेह रहित है और सदैव उदयरूप है । किसी भी समय में इसका किसी भी प्रकार से अभाव न होगा ।

## श्लोक-454

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकाश्चराचरः ।

अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् ॥४५४॥

**योगियों की परमज्योति** — केवलज्ञान में कितनी सामर्थ्य है जो कुछ केवलज्ञान द्वारा जाना जा रहा है वह समस्त लोक में जाना जा रहा है । ऐसे लोक असंख्यात हों, अनगिन्ते भी हों तो भी यह केवलज्ञान सबको जानता है । ज्ञान में कुछ सिकुड़न तो होती नहीं कि इसमें इतने ही पदार्थों का ज्ञान समा पायेगा, अन्य पदार्थों का ज्ञान करने की इसमें गुंजायेश नहीं है । ज्ञान का कार्य तो जानना है, और, जानन जो सत् हो उस सबका जानन है । इस केवलज्ञान में समस्त लोकालोक प्रभासित होता है, अथवा यों कहो कि केवलज्ञान के समस्त अविभागी परिच्छेदों में से अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से यह समस्त लोकालोक जान रहा है अर्थात् इससे भी अनन्तगुने ज्ञेय पदार्थ हों तो उन्हें भी यह केवलज्ञान जान सकता है । केवलज्ञान लोक से अधिक नहीं जान रहा किन्तु स्थिति शक्ति बतायी जा रही है कि ऐसे अनगिन्ते लोक भी होते तो उन्हें केवलज्ञान जान लेता है । जो सत् है, सत् था, सत् होगा उसको केवलज्ञान जानता है । वर्तमान काल को ही जाने ऐसी सीमा मतिज्ञान में है, और मतिज्ञान का भेद जो स्मृतिज्ञान है वह तो अतीतकाल की भी बात समझता है । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तो अतीत और भविष्यकाल की भी कुछ सीमा लेकर प्रत्यक्षरूप से जानता है । जिस विषय में अवधिज्ञानी ने अवधिज्ञान जोड़ा उसको जान लेता है कि अमुक समय ऐसी बात होगी । तो जब किसी एक समय की बात को जान गया तो इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक समय में बात निश्चित है । होगा विधिविधानपूर्वक, पर कैसे भी हो । जो कुछ भी हुआ उसे ज्ञान ने जान लिया । एतावनमात्र से पदार्थ को परिणमने की विरोधता नहीं आई, वह तो जो कुछ होना है, होना है, हो सकता है, वह सब हो रहा है । ज्ञान ने तो चूँकि विशुद्ध है जो उसने जान लिया । यह कुछ ज्ञान ने अपराध नहीं किया । पदार्थ तो जब जिस विधि से होना है होता है । उन सबको प्रत्यक्षज्ञान स्पष्टरूप से जान लेता है । इस तरह सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में ज्ञान के ५ भेदों को बताया गया है । इन ज्ञानों में सर्वोत्कृष्ट ज्ञान केवलज्ञान है और उस केवलज्ञान का बीज है स्वानुभूति और स्वानुभूति है मतिज्ञान । स्वानुभूति एक अनुपम और विलक्षणज्ञान है । उसके प्रताप से ज्ञान का विकास हो होकर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

## श्लोक-455

अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।

तद्दुर्बोधोद्धतं ध्वान्तं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्तितम् ॥४५५॥

**ज्ञान द्वारा दुर्बोधोद्धत ध्वान्त का वेदन** — जिस मिथ्याज्ञानरूपी महान् अंधकार को चन्द्रमा और सूर्य भी नष्ट नहीं कर सकते ऐसा दुर्बेद्य मिथ्यात्व अंधकार ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है अर्थात् मोह मिथ्यात्व के विकल्पों का अंधेरा ज्ञान से ही दूर होता है। जैसे यहाँ अनेक बाह्य कारणों से दूर नहीं हो पाते किन्तु भीतर के विचारों का परिवर्तन बने तब ही वे संकट दूर होते हैं। अनेक प्रेमी लोग समझाने वाले अनेक तरह से समझाते हैं और यह चाहते हैं अपनी पूर्ण शक्ति के साथ कि इसके संकट दूर हों और संकट तो भीतर के विचारों से बने हैं। जिस किसी प्रकार भीतर के विचार में परिवर्तन हो तो संकट दूर हो सकते हैं। हर जगह देख लीजिए संकट भीतरी ख्याल है। मान लो एक देश के नेता से देश पर कोई शत्रु उपद्रव करे तो यह घोर संकट कहलाता है, किन्तु जिसके भीतर का विचार इसे अंगीकार करे उसको ही तो संकट है और कोई विरक्त संसार का स्वरूप जानता है, न यहाँ हमारा ठिकाना है और न अन्यत्र कोई ठिकाना या ठौर ठिकाने की बात है सब एक समान है। कुछ दिनों के लिए आज इस देश में हैं, इसके बाद कहाँ के कहाँ होंगे और कितने काल का यह खेल है। कोई विरक्त हो तो उसे भी संकट नहीं महसूस कर सकता है ही नहीं संकट उसमें। संकट तो सबका अपने-अपने विचारों से है। कोई सोचे कि हमारे कुल की परम्परा अच्छी बनी रहे, लड़के लोग अच्छे चलें, उनके लड़के फिर उनके लड़के यों पीढ़ी परपीढ़ी के सब लोग कुशल रहें, सबका यश बढ़े, इज्जत बढ़े ऐसा सोचते हैं। प्रथम तो कितनी पीढ़ी तक का आप ठेका लेना चाहते हैं कि इतनी पीढ़ी तक के लोग अच्छे रहें? कुछ ठेका ही नहीं लिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि मरे के बाद तो ये सब उतने ही गैर हो जायेंगे जितना गैर दूसरों को माना है। तब फिर इनकी ओर ध्यान करना, विचार करना यह संकट है कि नहीं? लेकिन जब सभी लोग इस धुन में हैं, इस विचार में है तो यह चतुराई मानी जाती है। संकट नहीं मान रहे और जो इन बातों में कुशल है उनकी प्रशंसा की जा रही है। जिन्दगीभर श्रम करें, धन जोड़कर रखें उनकी ही लोग तारीफ करते हैं कि देखो उसने कितनी अच्छी व्यवस्था बनाई कि उसके बालबच्चों को कोई तकलीफ नहीं है, और किया सारे संकटों के ही काम। तो विचारों के भेद में बहुत भेद है, मर्म है, सारे संकट विचारने के हैं। किसी भी मामले में किसी को अपना और किसी को गैर मान लेना यही संकट है। यहाँ तो जिन्हें अपना मानते वे भी गैर हैं और जिन्हें पराया मानते वे भी गैर हैं, सभी अपने स्वरूप में हैं। ऐसा नहीं कि कोई अपना है और कोई गैर है। सब जीवों का स्वरूप जैसा अपना है तैसा ही सबका है। रंच भी भेद नहीं है। भव्य जीव और अभव्य जीव में भी स्वरूप का भेद नहीं, जो इतनी बड़ी भारी परिस्थितियों में अन्तर की चीज है। जैसा ज्ञानानन्दस्वभाव भव्य का है वैसा ही ज्ञानानन्दस्वभाव अभव्य का है, जो शक्तियाँ भव्य में है वही शक्तियाँ अभव्य में हैं। तभी तो केवलज्ञानावरण भव्य के भी लगा जिससे केवलज्ञान नहीं हो रहा और केवलज्ञानावरण अभव्य के भी लगा जिससे ज्ञानावरण नहीं हो रहा। भव्य और अभव्य जीवों में जहाँ एक स्वरूप है फिर और की तो कहानी क्या? भव्य-भव्य उनमें भी ये मेरे हैं, ये पराये हैं, ये भिन्न हैं, ये गैर हैं, यह प्रतीति से भेद नहीं रहता। यही संकट है। इस पर संकट रात दिन चला करते चले जा रहे हैं और ख्याल तक नहीं करते कि हम स्वयं सङ्कटों को रोज-रोज

पनपा रहे हैं । कोई इन संझुटों को देहाती असभ्य बनाकर सहता है और कोई इन संझुटों को सभ्य, नेता, चतुर कहलाकर सहता है । यही अंधेरा है, यह मोह मिथ्या अंधकार है, इसे चन्द्र और सूर्य भी नष्ट नहीं कर सकते, किन्तु एक सम्यग्ज्ञान से यह नष्ट होता है ।

## श्लोक-456

दुःखज्वलनतप्तानां संसारोग्रमरुस्थले ।

विज्ञानमेव जन्तूनां सुधाम्बु प्रीणनक्षमः ॥४५६॥

**विज्ञानसुधा से संसारसंताप का शमन** — इस संसाररूपी उग्र मरुस्थल में दुःख की ज्वाला से तपे हुए जीवों को एक सत्य तत्त्वज्ञान ही अमृतरूपी जल से तृप्त करने में समर्थ है जैसे मरुस्थल है अर्थात् जहाँ मरुभूमि है, जहाँ पानी का ठिकाना नहीं है और फिर वहाँ लग जाये तो उस आग से बचना वहाँ के जीवों के लिए कठिन पड़ता है । कहाँ जल रखा है, ऐसे ही इस संसाररूपी मरुस्थल में असार स्थानों में तप रहे ये संसारी प्राणी हैं, इनका अब क्या उपाय है ? बहुत कठिन बात है कि वे शान्त हो जायें, तृप्त हो जायें । केवल एक ही उपाय है । तत्त्वज्ञानरूपी अमृतजल से उसे तृप्त कराया जाये । यथार्थज्ञान की वृत्ति हुई कि सारे संकट एक साथ दूर हो जाते हैं । बहुत-बहुत विपदा है, पर एक यह प्रकाश आ जाये कि मेरा बाहर में कहीं कुछ नहीं है, लो सबके सब संकट एक साथ शान्त होते हैं या नहीं । तो मैं क्या हूँ ? मैं एक चेतन ज्ञानानन्दस्वरूप अमूर्त जिसका नाम नहीं जिसे विशेषण से आत्मा कहते हैं, देह से भी जुदा जिसको कोई समझता नहीं, इस सम्बन्ध में भी जिसे किसी का परिचय नहीं ऐसा एक चैतन्यस्वरूप मैं हूँ । इस मुक्त अंतस्तत्त्व का कहीं कोई नहीं है । तो यों तत्त्वज्ञान की दृष्टि जब जगती है तो सारे दुःख एक साथ शान्त हो जाते हैं या नहीं ? सो खुद अनुभव करके देख सकते हैं । तो सम्यग्ज्ञानरूप अमृतजल से ही दुःखी पुरुषों को तृप्ति मिल सकती है अर्थात् संसार के दुःख मिटाने के लिए एक सम्यग्ज्ञान ही समर्थ है । सम्यग्ज्ञान के प्रसंग में जो कुछ अन्तर्वृत्ति होती है स्वयं के हित की दृष्टि से हित की पद्धति से होती है । कभी कोई उस सम्यग्ज्ञान की वृत्ति से इस जीव का अहित नहीं होता है, हित उत्पन्न होता है ।

## श्लोक-457

निरालोकं जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम् ।

तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्करः ॥४५७॥

**ज्ञानभास्कर के उदित न होने तक ही अज्ञान तिमिर की संभवता** — जब तक ज्ञानसूर्य का उदय नहीं

होता तभी तक यह जगत् अर्थात् प्राणी अज्ञानरूपी अंधकार से आच्छादित हैं । जैसे रात्रि का अंधकार तभी तक है जब तक सूर्य का उदय नहीं होता । सूर्य रात्रि कुछ अलग चीज नहीं है जिसने अंधेरा ला दिया हो, सूर्य नहीं रहा उसी का नाम रात्रि है, सूर्य अस्त हो गया, उसके बाद जब तक उदय नहीं होता तब तक जो अंधेरा है वही रात्रि है तो रात्रि का अंधकार चूँकि सूर्य के अभाव से प्राप्त है अतः सूर्य के उदय होने पर अंधकार समाप्त हो जाता है । ऐसे ही यह मोहान्धकार, अज्ञान अंधकार है क्या चीज ? ज्ञान का सद्भाव नहीं है, ज्ञान अस्त है और उसी का ही यह परिणाम है कि मोह रागद्वेषरूप अज्ञान परिणाम बना है। तो यह अज्ञान परिणाम का अंधकार तब तक ही रहता है जब तक ज्ञान परिणाम उत्पन्न न हो, अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्य का उदय होते ही अज्ञानरूपी अंधकार नष्ट हो जाता है । जैसे दो ही तो बात — हैं दिन और रात और उसकी दो संध्यायें । इन चार के अलावा और समय क्या है व्यवहार में ? या दिन होगा या दिन के बाद की संध्या या रात होगी या रात के बाद की संध्या । ऐसे ही यहाँ संसार में अज्ञान का भी प्रसार है और क्वचित् आत्माओं में ज्ञान का भी प्रकाश है, तो ४ ही तरह की तो बातें हैं— या ज्ञानप्रकाश है या अज्ञान अंधकार है या ज्ञानप्रकाश हो जाने के बाद भी अज्ञान की ओर जब परिणति होती है जीव में समय की एक संध्या है और जब ज्ञान अंधकार दूर होता है, ज्ञानप्रकाश पाता है एक उसके बीच की संध्या है । तो ज्ञान और अज्ञान ये दोनों ही परिणमन हैं । अज्ञान कब तक है ? जब तक ज्ञानसूर्य का उदय नहीं होता । किसी के व्यय को किसी का उत्पाद कहा जाता, किसी के उत्पाद को किसी का व्यय कहा जाता । जब हम परिणति की दृष्टि से देखते हैं तो सद्भावात्मक बात देखिये और लोक प्रकृति के अनुसार सद्भाव अभाव का वर्णन करिये । यद्यपि यह भी कह सकते हैं कि अज्ञान मिटने से ज्ञान बनता है । तो क्या यह नहीं कह सकते हैं कि ज्ञान जगने से अज्ञान मिटता है और सद्भावात्मक बात से चलें तो और हमें क्या करना चाहिए इस दृष्टि से चलें तो ज्ञान होने से अज्ञान मिटता है, इस ओर दृष्टि जाना चाहिए । जैसे हम क्या करें, किस तरह हमारा धर्म निभे, हममें धर्म प्रकट हो उसके लिए कोई प्रतिषेध मुखेन वर्णन करें, पाप न करो तो धर्म होता है, अमुख-अमुख काम न करो उससे धर्म होता है । क्या करें हम ? ज्ञान करें, सत्य श्रद्धा करें, आत्मा की सुध लें, सहजस्वरूप की दृष्टि करें इससे हमें करने योग्य कृत्य के दर्शन होते हैं । तो यहाँ सम्यग्ज्ञान के प्रताप का वर्णन चल रहा है । सम्यग्ज्ञान का ऐसा प्रताप है कि इससे वह अज्ञान अंधकार नष्ट होता है जो अंधकार सूर्य के द्वारा भी नष्ट नहीं हो सकता ।

## श्लोक-458

बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।

गारुडश्च महामन्त्रः चित्तभोगिविनिग्रहे ॥४५८॥

**हृषीकमृगबन्धन में बोध की पाशरूपता** — इन्द्रियरूपी मृग में बाँधने के लिए एक ही दृढ़ पासा है, अर्थात् ज्ञान के बिना इन्द्रियाँ अधीन नहीं होतीं। इन्द्रियों पर विजय नहीं हो पाता। इन्द्रियों पर विजय करने का उपाय तत्त्वज्ञान है जिस तत्त्वज्ञान के कारण द्रव्येन्द्रिय से, भावेन्द्रिय से और विषयभूत पदार्थों से उपेक्षा हो जाती है। ज्ञान का उपेक्षा स्वभाव है। किसी परवस्तु में न लगाव उत्पन्न करता है और न उसका विघात उत्पन्न करता है, किन्तु ज्ञान का तो काम केवल जानन मात्र है। जिससे उपेक्षाभाव पड़ा हुआ है। तो तत्त्वज्ञान से ये इन्द्रियाँ वश होती हैं। द्रव्येन्द्रिय नाम है शरीर पर रहने वाली इन्द्रियों का, जो लोगों को दिखा करती हैं और भावेन्द्रिय नाम है इन द्रव्येन्द्रियों का साधन करके जो अन्तरङ्ग में विचार ज्ञान उत्पन्न होता है, वे सब ज्ञान विचार तर्क सब भावेन्द्रिय हैं। तो जो तर्क विचार उत्पन्न हुआ वह परिणाम भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो एक चित्स्वभावमात्र हूँ। ये विचार वितर्क एक परिस्थिति में उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार परिणमते रहना मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसा जानकर उन विभावों से भी उपेक्षा होना, और द्रव्येन्द्रिय तो पुद्गल हैं ही, उनसे उपेक्षा होना और विषयभूत पदार्थ भिन्न हैं, उनसे आत्महित नहीं है, उनसे उपेक्षा होना, इस प्रकार साधन और विषय इन तीन से उपेक्षा होने में इन्द्रियविजय होती है। यह ज्ञान चित्तरूपी सर्प का निग्रह विभाव और करने के लिए एक गरुण महाभष्म है अर्थात् ज्ञान के द्वारा यह मन भी वशीभूत हो जाता है।

## श्लोक-459

निशातं विद्धि निस्त्रिंशं भवारातिनिपातने ।

तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतत्त्वप्रकाशने ॥४५९॥

**भवविध्वंसक तृतीय नेत्र** — संसाररूपी शत्रु का विनाश करने के लिए ज्ञान ही तो एक मुख्य खड्ग है। जैसे लोक में शस्त्र से शत्रु का विघात किया जाता है इसी प्रकार यहाँ प्राकृत में कह रहे हैं कि हमारे शत्रु हैं संसारभाव, जन्म-मरण, रागद्वेष मोहादिक भाव। इन सब शत्रुओं के नाश करने में समर्थ कोई शस्त्र है तो वह है तत्त्वज्ञान। यह ज्ञान ही समस्त लोक को प्रकाशित करने के लिए एक अद्भुत अनुपम तृतीय नेत्र है। जब तृतीय नेत्र उत्पन्न होता है तब यह महादेव कहलाता है। इससे पहिले आत्मा है, संसारी है, प्राणी है, जन्ममरण का दुःख सहता है। दो नेत्र तो सबके ही होते हैं। इन चर्मनेत्रों से तो जो हैं सभी देखते हैं किन्तु एक आन्तरिक तृतीय नेत्र ज्ञान जिसके प्रकट हो जाता है, केवलज्ञान हो जाता है तब वह देवाधिदेव कहलाता है। तो यह ज्ञान ही समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए तृतीय नेत्र है। इन इन्द्रियों से जितना जो कुछ जानते हैं उससे अधिक तो एक आन्तरिक ज्ञान द्वारा लोग समझते रहते हैं। किस-किस देश की बातें, कहाँ-कहाँ की कहानियाँ ये सब ज्ञान द्वारा ही समझ रहे हैं। यहाँ भी मन का रूप है, परोक्ष है और इन्द्रिय द्वारा भी जब भी हम कुछ समझते हैं तो वहाँ भी साधकतम इन्द्रियाँ

नहीं हैं किन्तु साधकतम तो ज्ञान ही है । प्रत्येक प्रमाण में साधकतम ज्ञान है । तो ज्ञान के द्वारा ही लोकालोक सब कुछ जाना जाता है । स्वर्ग है, नरक है, भगवान है, तीर्थकर है, विदेहक्षेत्र है, इतने महापुरुष हुए हैं, इतने होंगे, जितनी जो कुछ भी जानकारियाँ करते हैं वे सब इन्द्रियों के द्वारा नहीं करते बल्कि ज्ञान के द्वारा करते हैं । वह ज्ञान हमारा मनरूप है, अन्तःकरण है । है तो आन्तरिक बात तो यह परोक्ष है और जब कोई ज्ञानी पुरुष परोक्षता का उपकार नहीं करते, एक स्वयं सहजस्वरूप के अनुभव में लगते हैं तो उसके प्रताप से परोक्षता दूर होती है और प्रत्यक्षता प्रकट होती है । तो ज्ञान ही संसारसंकटों को नष्ट करने में समर्थ है और यह ज्ञान ही समस्त तत्त्वों के जानने में समर्थ है । ज्ञान के प्रताप की बात चल रही है । चूँकि ध्यान के अंग हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । उसी के सिलसिले में यहाँ सम्यग्ज्ञान का प्रताप कहा जा रहा है ।

## श्लोक-460

क्षीणतन्द्रा जितक्लेशा वीतसङ्गाः स्थिराशयाः ।

तस्यार्थेऽमी तपस्यन्ति योगिनः कृतनिश्चयाः ॥४६०॥

**प्रज्ञ संतों का स्वरूपानन्द लाभ के अर्थ उद्यम** — जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है, जिन्होंने क्लेशों को जीता है, जिनका परिग्रह व्यतीत हो गया है, जिनका अभिप्राय स्थिर है ऐसे योगी पुरुष उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए तपश्चरण करते हैं । जो पुरुष प्रमादयुक्त हैं, जिनका आत्मकल्याण के लिए उत्साह नहीं जगता, जो क्लेश की स्थिति में भीरु बनते हैं, अधीर हो जाते हैं, जिन्हें किसी परिग्रह में मूर्छा परिणाम है और इन्हीं कारणों से जिनका चित्त स्थिर नहीं है, आत्मकल्याण के लिए जिन्होंने दृढ़ निश्चय नहीं किया है ऐसे पुरुष कभी बाह्य तप भी करें तो किसलिए करते हैं ? इसका एक तो उत्तर आएगा नहीं । एक उत्तर लेना चाहते हो तो यही उत्तर आ सकता है कि अन्तस्तत्त्व के प्रकाश के प्रयोजन के अलावा अन्य किन्हीं प्रयोजनों के लिए भी तपश्चरण करते हैं । जिन्होंने अपने आपमें अपना स्वरूप इस प्रकार नहीं निरखा, जिनमें समता परिणाम नहीं जगा, जिनमें यह मैं अमूर्त आत्मा हूँ ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, एक स्वरूप है अतएव अन्य लोगों से अपरिचित है, अपने आपमें अपने आपको लिए हुए हैं, किसी भी वस्तु के परिणामन से हममें सुधार अथवा बिगाड़ नहीं होता है, ऐसा मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्य स्वरूप मात्र अन्तस्तत्त्व हूँ, और हमारी इस दृष्टि के अनुकूल जो परिणामन होता है वह तो हितरूप होता है और आत्मदृष्टि तजकर बाह्य पदार्थों में कुछ भी निरखने पर जो एक उद्वेगरूप परिणामन होता है वह मेरी चीज नहीं है । मैं सबसे न्यारा अपरिचित ज्ञानमात्र हूँ इस तरह जिन्होंने अपने आपको नहीं निहारा है इस लोक में अपनी कीर्ति, यश, इज्जत, प्रशंसा को ही महत्व दिया है वे बाह्य यश आदिक की प्राप्ति के लिए ही बड़ी-बड़ी कठिन यातनाएँ सहा करते हैं । सम्यग्ज्ञान की ऐसी महिमा है कि इसके प्रताप से ज्ञानी

पुरुषों को अन्तरङ्ग में आकुलता नहीं होती । बाहर कुछ भी बीत रही हो पर किसी के परिणमन को निरखकर उन्हें खेद नहीं होता । वे तो प्रसन्न रहा करते हैं । अज्ञानी पुरुष तो किसी के अनुकूल परिणमन में हर्ष और प्रतिकूल परिणमन में विशाद मानता है । सम्यग्दृष्टि पुरुष तो पर में चाहे जो बीते पर वे अपने आपसे चलित नहीं होते । उन्हें कुछ परवाह ही नहीं है, वे खुद अपने आपमें बहुत सावधान रहते हैं । जिसमें अपना हित है उसी पथ से उनकी सहज वृत्ति अंतः चला करती है । सम्यग्ज्ञान के लिए ही ज्ञानी पुरुष समस्त तपश्चरण किया करते हैं ।

## श्लोक-461

वेष्टयत्याऽऽत्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः ।

विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥४६१॥

**अज्ञानी और विज्ञानी के बन्ध मोक्ष का विवरण** — ज्ञानी पुरुष अपने आपको अपने ही द्वारा कर्मरूपी बन्धन से वेष्टित कर लेते हैं । कर्म दो प्रकार के हैं — भावकर्म और द्रव्यकर्म । तो यह प्राणी अज्ञान से, मोह से विषयकषायों के परिणाम करके रागद्वेष की ही विधि बनाकर अपने आपको स्वयं परतंत्र बना लेता है । वैसे कोई भी जीव किसी दूसरे के अधीन नहीं है । न पुरुष स्त्री के अधीन है, न स्त्री पुरुष के अधीन है, यों ही न पिता पुत्र के अधीन है और न पुत्र पिता के अधीन है, किन्तु इन संसारी प्राणियों में सब में राग मोह स्नेह बस रहा है सो अपनी ही रागपरिणति से ऐसे अधीन बन गए हैं कि उस राग के विषयभूत परिजन या धन कुटुम्ब आदिक को तजकर कहीं जा नहीं सकते ।

यह जीव निमित्त पाकर अपने आपकी परिणति से ही अपने आपको बेड़ लेता है । जैसे ध्वजा हवा का निमित्त पाकर अपने आपके ही तंतुओं से अपने आपको बाँध लेता है । ऐसे ही कर्मोदय का निमित्त मात्र पाकर यह आत्मा वस्तुतः बँधता है अपने आपके रागद्वेष से अपने आपमें ही । बड़ी परवशता है, कहाँ है परवशता भीतर में ? कल्पनाओं से अपनी ही तरंग उठाकर अपने आपमें ही परवशता का अनुभव किया जा रहा है । उस परवशता मानने के कारण विह्वलता अधिक हो रही है । हो क्या रहा है वहाँ ? अपने आपकी परिणति से अपने आपकी भूल में अपने आपका बन्धन हो रहा है । बन्धन करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है । तो अज्ञानी जीव अपने आपको अपने ही को कर्मरूप बन्धन से बेड़ लेता है किन्तु भेदविज्ञानी जीव किसी भी समय सावधान बनकर प्रबुद्ध होकर अपने को कर्मबन्धन से छुड़ा लेते हैं ।

**दुःख का कारण भ्रम** — देखिये भैया ! भूल है तो बड़ा भारी दुःख अनुभव करना पड़ता है और भूल मिटी कि समस्त दुःख तुरन्त समाप्त हो जाते हैं । जैसे कुछ अंधेरे उजेले में कहीं घर के कमरे में कोई रस्सी पड़ी है और आपको भ्रम हो जाये कि यह तो साँप है तो बड़ी विह्वलता बन जाती है । अब कैसे रहेंगे ? घर में यह साँप आ गया है, छुप जायेगा, फिर निकलेगा, कहीं काट न ले । बड़ी विह्वलता होती है ।

कदाचित् भाग भी जाये तो फिर आने की शंका मन में है । और, कोई कुछ थोड़ा अगर सताकर भगा दे तो बदला लेने के लिए फिर भी आ सकता है । आह बड़े विह्वल होते हैं । वह विह्वलता किसने पैदा की ? क्या किसी बाहरी वस्तु ने ? यदि साँप भी होता सही तो भी साँप से विह्वलता नहीं बनती और यहाँ तो साँप भी नहीं है कोने में रस्सी पड़ी है तो क्या उस रस्सी से विह्वलता निकल कर आयी है ? अपने आपमें ही अपनी कल्पनाएँ बनाकर अपने आपको विह्वल कर लेते हैं । थोड़ी देर बाद कुछ परिक्षा के भाव से समीक्षा निरखें और अन्दाज हो जाये कि साँप तो नहीं मालूम होता, रस्सी है, और थोड़ी देर में दृढ़ निर्णय हो जाये कि रस्सी है तो विह्वलता सब दूर हो गयी । आकुलता किसने मिटाई ? जब आकुलता हुई थी तब भी रस्सी ने नहीं की और साँप भी होता तो भी साँप नहीं करता । और जब विह्वलता मिटी है तो किसी दूसरे ने नहीं मिटाई । अपने आपकी कल्पना का अपने आपमें आकुलता और परतंत्रता का यह जीव अनुभव कर लेता है और जब भेदविज्ञान हाता है, यह अकिञ्चित्कर है, बाह्य पदार्थ है ऐसा विदित हो जाता है तो विह्वलता दूर हो जाती है । जिसने साँप समझा था रस्सी को और अब रस्सी समझ में आ गई है तो क्या समझ में आ गया है उससे विह्वलता खतम हो गई ? यह रस्सी है ऐसा तो लोग कहते हैं, किन्तु यह समझ में आ गया कि यह पदार्थ मेरा बिगाड़ करने वाला नहीं है, अकिञ्चित्कर है, यह मेरा कुछ नहीं कर सकता, यह भाव आया है भीतर में । रस्सी का बोध हुआ इसमें यह भाव छिपा है कि यह अकिञ्चित्कर है, मेरे में यह कुछ परिणमन नहीं कर सकता, काट नहीं सकता, प्राण नहीं हर सकता अकिञ्चित् करता का विश्वास है, अन्य कोई पदार्थ मेरा कुछ नहीं कर सकता तो विह्वलता खत्म और जब भूल होती है अर्थात् अन्य पदार्थों को अपने प्रति किञ्चित्कर मानते हैं, यह मेरे में कुछ बिगाड़ कर देगा, यह मेरे को सुख दे देगा, तो परपदार्थों को जब यह अपने में किञ्चित्कर मानता है तो इस भ्रम से दुःख है ।

**भेदविज्ञान से शुद्ध समाधान** — भेदविज्ञान के प्रताप से यह बात समझ में आ जाती है कि यह अकिञ्चित् कर है, समस्त पदार्थ अपने आपमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप में रहा करते हैं, उनका जो कुछ होता है उनके प्रदेशों में होता है, उनका प्रभाव अन्य पदार्थों में नहीं पहुँचता । जिसे लोग प्रभाव कहते हैं उसका अर्थ है पर का निमित्त पाकर यह उपादान इस रूप परिणम गया । ऐसा सम्बन्ध जहाँ निरखते हैं उसी का नाम प्रभाव है । किसी भी वस्तु का द्रव्य, गुण, पर्याय किसी अन्य में प्रवेश नहीं करता, यह वस्तु का त्रिकाल अकाट्य नियम है । लेकिन प्रभाव नाम किसका पड़ा ? जहाँ उपादान ऐसी योग्यता वाला हो कि किसी अनुकूल परपदार्थ का सन्निधान पाकर अपने आपमें कोई परिणमन कर लेता हो जिससे कुछ निमित्त उपादान का सम्बन्ध नियम नहीं बन सकता है, उस स्थिति को प्रभाव कहते हैं । किसी जज अफसर के पास वकील दसों बार जाता है, बड़े आदमी भी बेधड़क जाते हैं किन्तु किसी गरीब देहाती का मुकदमा हो, कभी न आया हो तो वहाँ घुसते ही उसके हाथ पैर काँपने लगते हैं तो क्या उस पर जज का प्रभाव है ? अरे जज ने उसमें कुछ नहीं किया । वह खुद ना समझ था, उतना ज्ञानबल न था, उतनी पहुँच न थी सो अपनी ही कमजोरी से जज का सन्निधान पाकर मन में कल्पनाएँ बनाकर स्वयं थराने

लगा । इसी को प्रभाव डालना कहा जाता है । परमार्थ से किसी भी वस्तु का द्रव्य गुण पर्याय किसी अन्य द्रव्य में नहीं पहुँचता । प्रभाव इन तीनों को छोड़कर अन्य चीज नहीं है । प्रभाव द्रव्य न हो, गुण न हो, पर्याय न हो तो फिर और क्या है ? प्रभाव द्रव्य है तो उसका उसही में, प्रभाव गुण का नाम है तो उसका उसही में, प्रभाव पर्याय का नाम है तो उसका उसही में । निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध जरूर ऐसा है अर्थात् घटनाएँ अवश्य ऐसी होती है कि कोई अशुद्ध पदार्थ किसी भी अन्य अशुद्ध पदार्थ का सन्निधान पाकर अशुद्धरूप परिणमने लगता है, शुद्ध के लिए शुद्ध का निमित्त नहीं है । उपादान और निमित्त में एक तो हो शुद्ध और एक हो अशुद्ध तो भी निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं बनता । तो जैसे अशुद्ध ने कदाचित् शुद्ध आत्मा को ध्यान करके उन्नतिशील हुआ तो वहाँ उस अशुद्ध आत्मा के लिए शुद्ध आत्मा निमित्त नहीं है, किन्तु वह आश्रयभूत पदार्थ है । निमित्त में और आश्रय में फर्क है । जीव के प्रत्येक विभाव परिणमन में निमित्त कर्म की अवस्था है, शेष विषय आश्रय नोकर्म आदिक निमित्त से कहे जाते हैं वे आश्रयभूत तो जितने भी विभाव परिणमन होते हैं अशुद्ध उपादान में होते हैं और किसी अशुद्ध निमित्त को प्राप्त करके होते हैं । भेदविज्ञानी जीव ही स्वरूप स्वतंत्रता के मर्म से अपरिचित है । वह परमार्थतः समस्त अन्य पदार्थों को अपने प्रति अकिञ्चित्कर ही देखता है अतएव उसके विह्वलता नहीं है । सो भेदविज्ञानी जीव किसी काल में सावधान होकर अपने को कर्मबन्धन से छुड़ा लेता है ।

## श्लोक-462

यज्जन्मकोटिभिः पापं जयत्यज्ञस्तपोबलात् ।

तद्विज्ञानी क्षणार्द्धेन दहत्यतुलविक्रमः ॥४६२॥

**ज्ञानबल से क्षणमात्र में कर्मदहन** — अज्ञानी जीव तपबल से करोड़ों वर्षों में जितने कर्मों को, पापों को दूर करता है उतने कर्मों को पापों को भेदविज्ञानी जीव आधे क्षणभर में ही भस्म कर देता है । यह बात एक संख्या की दृष्टि से कही जाती है । वस्तुतः अज्ञानी के निर्जरा ही नहीं है, लेकिन मंदकषाय से, परोपकार से, तपश्चरण से, क्षमा आदिक गुणों से जितने भी कर्मों को वह गला सका, अलग कर सका फल देकर अथवा कर्मफल मिलकर किसी भी प्रकार, इन पापों का मूल है अज्ञान । परपदार्थों में यह मैं हूँ, यह मेरा है, हितकारी है, सुखदायी है इस प्रकार की जो प्रतीति है यह स्वयं पाप है और नाना पापों का बीजभूत है । इस अज्ञानपाप के होते हुए भी कुछ परिस्थितियाँ ठीक मिलने से जबरदस्ती समता बनाकर दया करके धर्मप्रसंग करके, तपश्चरण करके जितने पापों को अज्ञानी करोड़ों जन्मों दूर करता है उतने पापों को ज्ञानी जीव एक क्षणमात्र निर्लेप शुद्ध निज अंतस्तत्त्व को देखते ही दूर कर लेता है । यहाँ तो सही नियम है अविनाभाव जहाँ निर्दोष अपने आपके सत्त्व के कारण सहज स्वरूप मात्र अपने आपको

निरखा तो पाप तो इस निरख के बिना ही चल रहे थे ना ? इस अंतस्तत्त्व के निरखने से पाप शीघ्र ही दूर हो जाते हैं ।

**धर्मपालन और उसका परिक्षण** — धर्मपालन के लिए एक शुद्ध दृष्टि बन जाना चाहिए और सभी धार्मिक प्रसंगों में अपने आपको यहाँ से ही कसौटी लगाना चाहिए । हमने धर्म किया अथवा नहीं किया । कहीं बहुत विद्वानों की सभा जुट रही हो, उस सभा आयोजन में धर्मधारण की दृष्टि से हम सम्मिलित हुए जो अंदाज लगायें कि विद्वानों में वचन सुनकर हमने अपने आपके अंतरङ्ग में मुड़ने अथवा अन्तःस्वभाव को छूने का यत्न कर पाया कि नहीं, और कर पाया तो कितने रूप में ? उससे हिसाब लगायें कि हमारा जाना सार्थक हुआ, कुछ धर्मपालन किया । किसी भी समारोह विधान में सम्मिलित हुए, योजना बनाया, इसमें यह देखो कि हम अपने आपके स्वभाव के निकट पहुँचने में कितना सफल हो सके हैं, बस वही हमने धर्मपालन का यत्न किया । और, ऐसा काम बन सके, बना हो कभी, फिर उस ही उद्देश्य के लिए वैसा ही भारी समारोह जुड़ाव जुड़ जाये तो चूँकि लक्ष्य उसका वह है आत्मधर्म की दृष्टि अतः वहाँ भी कुछ अंशों में धर्मपालन कर रहा है क्योंकि लक्ष्य उसका एक बन गया ना । तो ज्ञानी पुरुष की दृष्टि अपने आपके सहजस्वरूप के निरखने के लिए रहती है और जब ऐसा अनुभव करता है तो उतने पाप जितने कि अज्ञानी कोटि जन्म तप तपने से दूर कर सका, ऐसे इस शुद्ध दृष्टि के प्रताप से क्षणभर में उतने पापों को नष्ट कर लेता है । हम आपका निर्णय होना चाहिए कि हमारा इस जीवन में मात्र एक कर्तव्य है अपने आपको जानें, और उसे ही हितरूप समझकर उसमें ही मग्न होने का यत्न करें ।

## श्लोक-463

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।

स बध्नात्यात्मनामानं कुर्वन्नपि तपश्चिरम् ॥४६३॥

**अज्ञानपूर्वक चेष्टा में बन्धनहेतुता** — जिस साधु की इस लोक में अज्ञानपूर्वक चेष्टा होती है वह चिरकाल भी तपस्या करता हो तब भी अपने आपसे अपने ही कृत्यों से बाँध लेता है । अज्ञानपूर्वक तप भी बन्धन का ही कारण है । बात यों है कि जैसे किसी वस्तु पर चिकनाई हो तो धूल बँध जाती है । धूल न बँधे, इसका मूल उपाय तो चिकनाई रहित मूल वस्तु का होना है, तो रागद्वेष मोह आदिक जो विभाव हैं ये कर्मबन्ध के लिए चिकनाई का काम करते हैं, और यह चिकनाई न रहे, शुद्ध ज्ञान रहे तो बन्ध नहीं होता । कर्मबन्ध की बात तो दूर जाने दो, इसी समय बन्धन न महसूस करें वह भी एक बड़ा भारी धार्मिक काम है । जहाँ शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहने का परिणाम है वहाँ अधीनता और क्लेश नहीं रहते हैं । कोई मनुष्य ऐसा सोचे कि हम तो बड़े स्वाधीन हैं, घर में २-४ प्राणी हैं, कोई लम्बी गृहस्थी नहीं है, खूब आय भी है खर्च के लिए, किसी से कुछ वास्ता नहीं है, हम तो बड़े स्वतंत्र हैं, न किसी की नौकरी करते हैं, न कोई

दुकान का झंझट है, हम तो बड़े आजाद हैं । लेकिन आजाद हैं कहाँ । चित्त में यह खोजो कि हमारा रागभाव चल रहा है या नहीं । घर में ही सही, परिजनों में रागांश चल रहा है या नहीं । थोड़ा व्यवहार में मान लो कि सब साधन हैं, बड़ी आजादी है लेकिन जिनके प्रति रागांश है उनके प्रति आप भीतर से परतंत्र हैं । और जब तक राग है तब तक कर्मों का बन्ध नहीं मिटता । तो जो राग किया जा रहा है वह व्यर्थ का राग है । मरने के बाद मिलता क्या है ? अथवा जब तक जीवन है तब तक भी किसी ने कुछ अच्छा कह दिया तो उससे क्या मिल गया ? अरे लोग क्या कहेंगे ऐसा जो संकोच बना है, जो लोगों से परिचय बना है वह भी एक राग का ही रूपक है और उससे खेद होता है ।

**दुःख के हेतु का निर्णय** — दुःख के हेतु के निर्णय की एक ही बात है — जब-जब भी खेद हो तब समझना चाहिए कि हमें किसी वस्तु का राग है उससे है खेद अन्यथा खेद कुछ नहीं है । संसार है, चक्र है, कुछ आता है, कुछ जाता है, कुछ घटता है, कुछ मिलता है, कोई अच्छा बोलता कोई बुरा बोलता, कोई आदर करता है, कोई घृणा करता है, ये तो संसार के कार्य हैं, इनसे मेरा सुधार बिगाड़ नहीं है । मैं ही उनमें विकल्प मचाऊँ तो बिगाड़ है । तो अज्ञानपूर्वक चेष्टा से यह जीव और तो बात दूर रहे — तपस्या करके भी अपना ही बन्धन बढ़ाता है और कहो किसी समय बहुत-बहुत तपश्चरण करे, कष्ट सहे और फिर भी कोई बड़ाई करने वाला न मिले तो कितना गुस्सा आता है ? अज्ञानपूर्वक जो भी आचरण होते हैं उनमें तो अन्त में नियम से कष्ट है । किसी ने भला कह दिया उसमें राजी हो गए तो कष्ट है और निरन्तर ही कोई बड़ाई करता रहे ऐसा तो है नहीं । तो जब कभी महसूस करने लगते हैं कि मेरी तो कुछ भी इज्जत नहीं हो रही, इतने-इतने दिन का उपवास करते हैं फिर भी कोई विशेष इज्जत नहीं होती यों कितनी ही आकुलताएँ मचती हैं । अज्ञानपूर्वक तप की बात कह रहे हैं । आजकल कितने ही अज्ञानपूर्वक तप हो रहे होंगे और कितने ही ज्ञानपूर्वक, यह तो निकट वाले ही जान सकते हैं । अथवा नहीं भी जान सकते हैं । वे तो जो करते हैं उसका फल उनके लिए है । लेकिन अज्ञान महान् क्लेशों का बीज है, बड़े-बड़े महल बन रहे, बड़े-बड़े ठाठबाट हैं । है क्या, आँखे मिचीं लो खत्म । वह जीव जो आगे जायेगा उसके लिए यहाँ का सब कुछ फिर क्या रहा ? कोई करोड़पति मरकर पड़ोस में ही किसी गरीब के यहाँ पैदा हो जाये तो उसके पहिले वाले ठाठबाट किसी काम आ रहे हैं ? उसके लिए तो वे सब गैर हैं । पर अज्ञान से पर को अपनाने का परिणाम यह घोर कष्ट की बात है अज्ञानी में ।

## श्लोक-464

ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः ।

न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥४६४॥

**ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान से बन्ध की निवृत्ति** — जिस मुनि के समस्त आचरण ज्ञानपूर्वक होते हैं उसे किसी भी

काल में बन्ध नहीं होता । अज्ञानी के तो बहुत काल स्थिति बने तो विकट कर्मबन्ध होता है किन्तु ज्ञानी को ऐसा कर्मबन्ध कभी नहीं होता । जिसने एक बार वस्तुस्वरूप का सही निर्णय कर लिया, प्रतीति में आ गयी तो अन्तःसामान्यतया वह प्रकाश बना ही रहता है जिसके कारण उसके तीव्र कर्मबन्ध नहीं होता । मनुष्य जीवन पाकर सबसे बड़ा काम यह करने का पड़ा है — अपने ही भीतर गुप्त ही गुप्त अपने में अपना ध्यान कर रहे हैं । राग-द्वेष मोह का परित्याग हो रहा है । अपने ज्ञानस्वरूप को निरख-निरखकर आनन्दानुभव किया जा रहा है यह बात जिनके होती है वे हैं भाग्यशाली और पुण्यवंत । यह करना कर्तव्य है, इसी में बड़प्पन है, शेष सांसारिक बड़प्पन में क्या है ? आज इस देश में हैं तो दूसरे देशों का विरोध करते हैं और मरकर विदेश में पैदा हो गए तो यहाँ के लोगों से विरोध मानेंगे । तो थोड़ी सी जिन्दगी है, इसमें इष्ट अनिष्ट के विकल्प होते हैं । इतना सम्बन्ध जरूर है कि देश में यदि सब तरह का संतुलन रहता है तो धर्मसाधन निर्विकल्परूप से कर सकते हैं, क्योंकि देश पर आपत्ति आ रही है तो उसका कुछ न कुछ प्रभाव साधुजनों तक पहुँचता है, यह तो ठीक है लेकिन अज्ञानभाव से सोचना महाविह्वलता का कारण है ।

## श्लोक-465

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डितः ।

बालः स्वमपि बध्नाति मुचयते तत्त्वविद् ध्रुवम् ॥४६५॥

**बालाचरण व पण्डिताचरण का भेद** — काम तो वह एक-सा है अनेक व्यवहार के कामों में, जिस मार्ग से अज्ञानी चलते हैं उसी मार्ग में ज्ञानी विद्वान भी चल रहे हैं, पर अज्ञानी तो अपने आत्मा को बाँध लेते हैं और ज्ञानी विद्वान बंध से रहित हो जाते हैं । यह ज्ञान का माहात्म्य है । व्यवहार में भी दिखने में मार्ग एकसा है — वही गृहस्थी है, वही धर्म है, पर यहाँ भी जो ज्ञानी गृहस्थ हैं वे सम्बरनिर्जरा कर रहे हैं और जो अज्ञानी गृहस्थ हैं वे बंध कर रहे हैं । ऐसी ही साधुपन की बात है, वैसा ही उपवास, वैसी ही दीक्षा, ज्ञानी साधु कर रहे और वैसी ही अज्ञानी, पर ज्ञानीसाधु तो बन्धरहित होते हैं और अज्ञानी साधु कर्मबन्ध करते हैं । सबसे दुर्लभ चीज है तत्त्वज्ञान । प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अकेला है, अपने स्वचतुष्टयरूप है, किसी पदार्थ का अन्य पदार्थ पर कुछ परिणमन नहीं है, ऐसा विविक्तस्वरूप दृष्टि में रहना इससे बढ़कर कोई समृद्धि नहीं है, अमीरी वास्तविक यही है । कैसी भी स्थिति हो, ऐसी ज्ञानदृष्टि जिस पुरुष की हो रही हो वही वास्तव में अमीर है, क्योंकि अमीरी का फल है कि निराकुलता रहे । निराकुल तत्त्वज्ञानी ही रह सकता है । जिस किसी बाह्यपदार्थ में मेरे को करने को पड़ा है ऐसा विकल्प बना है वहाँ निराकुलता नहीं होती है ।

**बाह्याचारों का धर्ममार्ग में उद्देश्य** — जो परोपकार के कार्य हैं वे कार्य किसलिए है कि घर के कामों में करने की जो चित्त में धुन रहती है उसे काटने के लिए पर के उपकार करने की धुन बनाई जाती है और परोपकार की धुन से विषयों के कर्तृत्व की धुन का भंग होता है अतएव अच्छा है, किन्तु मोक्षमार्ग की दृष्टि से तो एक आत्मध्यान आत्मज्ञान और आत्मा का आचरण ही योग्य है। उसके आगे सारे हेय हैं। जिस मार्ग में अज्ञानी चलता है उसी मार्ग में पंडित अर्थात् तत्त्वज्ञात चल रहा है, मगर वह तत्त्वज्ञात बंधरहित होता है और अज्ञानी अपने को कर्मों से बाँध लेता है। जैसा तपश्चरण ज्ञानी पुरुष करता है वैसा ही अज्ञानी करता है, बल्कि ज्ञानी के तो सहज आचरण है। वह क्रियाकाण्ड में सावधानी की तेज निगाह नहीं रखता और अज्ञानी की क्रियाकाण्ड सावधानी की तेज निगाह रहती है तो अज्ञानी साधु की क्रिया निर्दोष दिखती है और ज्ञानी की क्रिया में उतनी निर्दोषता नहीं दिखती, क्योंकि उसका सहज वैराग्य है, सहज क्रिया है लेकिन ज्ञान और अज्ञान का इतना बड़ा अन्तर है कि एक ज्ञानी तो मुक्तिमार्ग में चल रहा है और अज्ञानी संसारबंधन में चल रहा है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अपने आपमें ज्ञान का प्रयोग करें यह तो मेरा विवेक है, बुद्धिमानी है, संसार के संकटों से छुटकारा पा लेने का पुरुषार्थ है और ज्ञानस्वरूप होकर भी खुद का ज्ञान न करे। बाहरी-बाहरी पदार्थों में ही उलझन रहे, दृष्टि रहे तो उसका फल संसारभ्रमण है।

## श्लोक-466

दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं, मदनभुजगमंत्रं चित्तमातङ्गसिंहम् ।

व्यसनघनसमीरं विश्वत्त्वैकदीपं, विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वं ॥४६६॥

**ज्ञानाराधना का उपदेश** — हे भव्य जीव ! तू ज्ञान का आराधन कर, मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल ज्ञानपुञ्ज हूँ, अमूर्त हूँ, निर्लेप हूँ, देह से भी विविक्त हूँ, केवलज्ञान भावरूप हूँ। यों अपने को ज्ञानमात्र की उपासना करें, क्योंकि ज्ञान पापान्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान है। जितनी विडम्बनाएँ हैं वे सब अज्ञान में हुआ करती हैं। विडम्बनायें दूर हों इसका उपाय एक सम्यग्ज्ञान प्रकट करना ही है और यह ज्ञान मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास करने के लिए कमल के समान है। जैसे कमल में लक्ष्मी का निवास है। लोक में भी वे पुरुष सुखी नजर आते हैं जिन्हें किसी से न लेना, न देना, न अधिक बोलचाल, न फसाव। अध्यात्मक्षेत्र में केवल अपने आपके स्वरूप अनुभव करने वाला हो, इसके अतिरिक्त अन्य भावों में उपयोग न लगाता हो वह सुखी है। शुद्ध मोक्षमार्ग पर आरूढ़ है। सम्यग्ज्ञान कामरूपी सर्प को कीलने के लिए मंत्र के समान है। काम प्रसंग विषयवासना ये सर्प की तरह भयंकर हैं। जैसे सर्प डस लेता है ऐसे ही काम की व्यथा भी डस लेती है और सर्प का डसा तो एक बार मरता है, कामव्यथा का डसा हुआ इस जिंदगी में भी बेकार-सा जीवन रहता है और यह अनेक बार मरण करेगा अर्थात् संसार में रुलेगा तो रुलना मरण बिना तो नहीं होता। मरे, जन्म हो इसी के मायने है रुलना। तो यह ज्ञान भी

ऐसे भयंकर कामव्यथा के सर्प को कील देता है । चित्त न लगाना पर की ओर, चित्त लगाना है अपने स्वरूप की ओर । ऐसा दृढ़ साहस जगता है तत्त्वज्ञान में । और, इस ही उपाय में वह कामव्यथा, वासना, इन्द्रिय भोगविषय इन सबसे दूर हो जाते हैं । मनरूपी हस्ती को विलीन करने के लिए सिंह के समान है यह तत्त्वज्ञान । सब वस्तुयें अपने-अपने ही स्वरूप में नजर आने लगे यह तत्त्वज्ञान व्यसन, आपत्ति, कष्टरूपी मेघों को उड़ाने के लिए वायु के समान है । जैसे तीव्र हवा चले तो मेघों में क्या दम है ? यों ही उड़ जाते हैं । मेघों का आकार ऐसा समझिये जैसे यह कुहरा जब छा जाता है तो उसमें क्या दम है ? कोई वजन नहीं है, कुछ विशेष आघात नहीं है, कुहरे से आदमी पार होता चला जाता है ऐसे ही उन मेघों से हवाई जहाज, मनुष्य सभी पार होते चले जाते हैं । जैसे शिखरजी या और ऊँचे पहाड़ों पर कोई यात्री चलता है तो उस यात्री के कपड़े कुछ भीग जाते हैं, उन बादलों से उसे कुछ आघात नहीं पहुँचता है । तो जैसे ऐसे मेघों को उड़ाने में समर्थ हुवा है इसी प्रकार ये संसारी आपत्तियाँ, कष्ट इनमें कुछ दम नहीं है । ये कल्पना से माने हुए हैं । कोई परपदार्थ किसी रूप परिणम रहा है तो उसका मेरे से क्या सम्बन्ध ? पर कल्पना बनाते हैं और दुःखी होते हैं । यह क्यों यों कर रहा है ? तत्त्वज्ञान हुआ कि कष्ट तुरन्त मिटा ।

**ज्ञान होने पर आपत्तियों का विनाश** — ज्ञान होने पर कष्ट मिटने के लिए कुछ भी समय न चाहिए । जैसे जिस समय ज्ञायकस्वभाव निजआत्मा की दृष्टि हुई उसी समय कषायें निवृत्त होने लगती हैं, कुछ समय न चाहिए, ऐसे ही तत्त्वज्ञान जगा तो आपत्तियाँ तुरन्त दूर हो जाती हैं । उसे भी कोई समय न चाहिए । यह ज्ञानतत्त्वों का प्रकाश करने के लिए दीपक के समान है । जैसे दीपक हो तो जहाँ चाहे चले जायें कोई बाधा नहीं आती, ऐसे ही तत्त्वज्ञान है तो कहीं उसे आपत्ति नहीं आती । इस तत्त्वज्ञान से ही सब विषयजाल नष्ट हो जाते हैं । इस ज्ञान का यत्न अधिकाधिक करें । तन, मन, धन, वचन सबका अधिकाधिक उपयोग करें तो ज्ञानार्जन के लिए क्योंकि ज्ञान कमाया हुआ, प्राप्त हुआ हमें वास्तव में काम देगा । और, अन्य पुद्गल संचय हो गया, अचानक प्राणपखेरू उड़ जाते हैं । किसी का क्या भरोसा रखते हो । भरोसा रखो केवल अपने स्वरूप का, कोई बम पड़े, मरे भी तो लो मैं पूरा का पूरा यहाँ से चला । दूसरी जगह पहुँच गया । क्या बिगाड़ हुआ ? स्वरूप का इतना तीव्र लगाव हो जाये तो उसे कष्ट कुछ नहीं । मरते समय कष्ट तो मोह का होता है । मरने का क्या कष्ट ? लो इस शरीर को छोड़ा और अन्य जगह चला । तो सम्यग्ज्ञान ही आत्मा का वास्तविक मित्र है, रक्षक है, गुरु है, देव है, सब कुछ है ।

## श्लोक-467

अस्मिन् संसारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे

क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसन्तानभीमे ।

मोहान्धाः संचरन्ति स्वलनविधुरिताः प्राणिनस्तावदेते

यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं ॥४६७॥

**ज्ञानभानु के प्रकाश में सकल उपद्रवों की निवृत्ति** — ये संसार के प्राणी अपने स्वरूप दर्शनरूप उत्तम मार्ग से छूटे हुए हैं और जगत् में गिरते पड़ते, पीड़ित हुए नजर आ रहे हैं । अमुक वस्तु का सहारा ले रहे थे वहाँ आपत्ति, अब अमुक का सहारा लेने लगे । यहाँ जन्म हुआ, मरे, फिर पैदा हो गए, जैसे कोई गिरता पड़ता नजर आता है तो इस जीव का गिरना पड़ना बड़ा लम्बा चलता है । आज यहाँ जीवन है कल कहां अनगिनते योजन दूर जाकर पैदा हो जाये । इसका गिरना पड़ना बड़ा तेज हो रहा है । यह क्यों हो रहा है ? यों कि इसने अज्ञान का उच्छेद नहीं किया, अज्ञान को बसाये है । जो राग दुःखी कर रहा है उसी राग को और लपेटा है और उस राग के विषयभूत को और लपेटता जाता है । जिससे ही क्लेश है उसका ही अपना अज्ञान अवस्था में होता है । कोई बच्चा बार-बार आग में हाथ दे तो लोग उसे अज्ञानी कहते हैं । जिस आग से हाथ जला उसी में हाथ लगाता है ऐसे ही जिस रागद्वेष मोह से इस आत्मप्रभु की बरबादी हो रही है उसी में पगे रहते हैं, यही कारण है कि यह जीव संसाररूपी वन में यहाँ-वहाँ पीड़ित नजर आ रहा है । यह संसार वन बड़ा भयंकर है जिसमें विषधर सर्परूपी पापविष से ये सब प्राणी दबे हुए हैं । इस संसार में क्रोधादिक के बड़े ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं, इस संसार वन में दुर्गतियों की नदियाँ बड़े वेग से बह रही हैं । ऐसे इस गहन वन में संतुष्ट हुए ये प्राणी यत्र-तत्र गिरते पड़ते नजर आ रहे हैं । इसका कारण है कि अज्ञान बसा हुआ है मोह बसा हुआ है । अत्यन्त भिन्न परपदार्थों को अपनाने की बुद्धि लगी हुई है ।

एक भीतरी दृष्टि की ही तो बात है । दृष्टि सुधरे तो आनन्द ही आनन्द है और न सुधरे तो आनन्द नहीं है । बतावो कुछ लगता नहीं, न शरीर का कष्ट है, यदि भीतर की अपनी दृष्टि सुधार लें तो शरीर का कोई कष्ट है क्या ? कोई धन खर्च होता है क्या । पर, इतना प्रमाद है मोक्षमार्ग में इतनी अरुचि है कि शुद्धि दृष्टि अन्तरङ्ग में नहीं बना सकते हैं । ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश हो तब किसी भी प्रकार का दुःख अथवा भय नहीं रहता । एक सम्यग्ज्ञान पर विश्वास करो, ज्ञान की साथी है, सारे क्लेशों को मेरा ज्ञान ही मिटा सकता है ऐसा विश्वास करके एक ज्ञान का ही शरण गहना चाहिए ।

॥ ज्ञानार्णव प्रवचन षष्ठम् भाग समाप्त ॥

